अप्रैल-सितंबर 1995 वर्ष : 27 अंक : 2/3

वैज्ञानिक

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद की पत्रिका
भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र के सौजन्य से प्रकाशित

कृत्रिम गर्भधारण : आधुनिक तकनीकें

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के सृजन व प्रचार हेतु परिषद नियमित रुप से त्रैमासिक पत्रिका "वैज्ञानिक" का प्रकाशन, विज्ञान गोष्ठियों, वार्ताओं एवं अखिल भारतीय विज्ञान लेख प्रतियोगिता का आयोजन करती है।

परिषद की सदस्यता एवं " वैज्ञानिक" पत्रिका का शुल्क इस प्रकार है।

	परिषद सदस्यता (रुपए में)			वैज्ञानिक शुल्क (रुपए में)	
	एक वर्ष	आजीवन	प्रवेश शुल्क	एक वर्ष	तीन वर्ष
व्यक्तिगत	15	100	1	15	40
संस्थागत	25	250	1	25	70

- "वैज्ञानिक" के विशेषांकों का मूल्य अलग से निर्धारित होगा।
- वर्तमान नियमानुसार परिषद के सदस्यों को "वैज्ञानिक" निःशुल्क भेजी जाती है।
- सभी शुल्क हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद के नाम से डिमांड ड्राफ्ट (बम्बई) अथवा भारतीय पोस्टल आर्डर द्वारा ही भेजें। कृपया बम्बई से बाहर के चैक व मनीआर्डर द्वारा शुल्क न भेजें।
- कृपया शुल्क के साथ अपना निजी विवरण इस पत्रिका में दिये गये आवेदन पत्र के प्रारुप के अनुसार भेजें।

" वैज्ञानिक" में विज्ञापन

हिन्दी में प्रकाशित होने वाली विज्ञान पत्रिकाओं में "वैज्ञानिक" अग्रणी है। देश के सभी मुख्य वैज्ञानिक संस्थान इसके ग्राहक हैं। इस पत्रिका में आपके विज्ञापन आमंत्रित हैं। पूरे पृष्ठ की छपाई का आकार 16 सेमी X 21 सेमी है।

विज्ञापन की दरें	: एक प्रति के लिए
अंतिम आवरण	: रु. 2,500/-
दूसरा/तीसरा आवरण (अंदर)	: रु. 2,000/-
पूरा पृष्ठ	: रु. 1,500/-
आधा पृष्ठ	: रु. 800/-

चुनाव परिणाम

कार्यकारिणी (1995-97)

पदाधिकारी

अध्यक्ष : डॉ. सी. के. गुप्ता, निदेशक, पदार्थ वर्ग, भा. प. अ. केंद्र,
उपाध्यक्ष : श्री राम निवास आर्य, धातुकी प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र
सचिव : डॉ. अशोक कुमार सूरी, धातुकी प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र
सहसचिव : श्री सुधाकर कोकाटे, जैव कार्बनिक प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र
कोषाध्यक्ष : श्री ललित कुमार, धातुकी प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र

सदस्य

श्री राम प्रसाद, धातुकी प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र
डॉ. विजय कुमार मनचंदा, रेडियो रसायनिकी प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र
श्री रमेश चंद्र पंत, सायरस रिएक्टर प्रचालन प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र
डॉ. केशव चंद्र शर्मा, ईंधन रसायनिकी प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र
श्री अमर नाथ नाकरा, सैद्धांतिक भौतिकी प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र

अ. कु. ग्रोवर, *चुनाव अधिकारी, धातुकी प्रभाग, भा. प. अ. केंद्र*

अ नु क्र म णि का

वैज्ञानिक

वर्ष 27 अंक 2/3

अप्रैल-सितंबर 1995

व्यवस्थापन मंडल

डॉ. अशोक कुमार सूरी
श्री ललित कुमार
श्री इंद्र कुमार शर्मा
श्री कुलवंत सिंह

संपादन मंडल

डॉ. गोविंद प्रसाद कोठियाल
श्री हरिओम मित्तल
डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला
डॉ. दुर्गा प्रसाद पांडेय
श्री रामनाथ जिंदल
डॉ. राजनारायण पांडेय

शुल्क

भारत में

	संस्थागत	व्यक्तिगत
एक वर्ष	25 रु	15 रु
तीन वर्ष	70 रु	40 रु

विदेश में

(समुद्री डाक द्वारा प्रेषण)

	संस्थागत	व्यक्तिगत
एक वर्ष	45 रु	35 रु
तीन वर्ष	125 रु	95 रु

शुल्क भेजने का पता

श्री ललित कुमार
कोषाध्यक्ष हिं. वि. सा. प., धातुकी प्रभाग,
भा. प. अ. केंद्र, मुंबई 400 085

संपादकीय 3

लेख

1. हीरे का युग 5
   — डॉ. (श्रीमती) वीणा सागर
2. उदरगैस : कारण, लक्षण एवं उपचार 11
   — डॉ. गणेश कुमार पाठक
3. लघु कागज उद्योग-रद्दी कागज का उपयोग : संसाधनों की बचत और पर्यावरण संरक्षण 14
   — संजीव कुमार गोयल
4. पश्चिमी राजस्थान में प्रदूषण की समस्याएं 20
   — डॉ. डी. डी. ओझा, डॉ. एस. एन. जौहरी एवं एस. गर्ग
5. मिट्टी के घर 25
   — बालकृष्ण काबरा "एतेश"
6. अग्निरोधी लकड़ी का प्रयोग : एक पर्यावरण स्नेही विकल्प 29
   — एन. एस. त्यागी, जे. पी. जैन एवं एस. सिंह
7. अंतरिक्ष में विचरते धूमकेतु 32
   — डॉ. (कु.) परवीन ख़्वान
8. भावी अंतरिक्ष स्टेशन 'फ्रीडम' 37
   — श्रीमती गीता शुक्ला
9. विष तथा विषाक्तता 42
   — डॉ. शिवगोपाल मिश्र एवं सुनील कुमार पाण्डेय
10. रंगीन अपशिष्ट जल शोधन में वृहत कवक का संभाव्य उपयोग 50
    — अतुल के. मित्तल एवं एस. के. गुप्ता
11. स्थायी चुंबकीय पदार्थ : आधुनिक विकास 53
    — महेंद्रकर हनमन्त राव, रघु माथुर एवं दिलशाद अख्तर
12. ओजोन छतरी में छेद : विश्वव्यापी समस्या 58
    — डॉ. अनिल श्रीवास्तव
13. वायुविलय तथा मूक घाटी का वायुमंडल 62
    — प्र. दि. सफई, जी. ए. मोमीन, पी. एस. पी. राव, ए. जी. पिल्लाई, एल. टी. खेमानी तथा एम. एस. नाईक
14. सौर शक्ति 67
    — उमा शंकर भट्टाचार्य
15. मातृत्व और कृत्रिम गर्भधारण 71
    — शोभा नाखरे

● "वैज्ञानिक" में लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों से संपादन मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है ।

● "वैज्ञानिक" में प्रकाशित समस्त सामग्री के सर्वाधिकार हिं. वि. सा. परिषद के पास सुरक्षित हैं ।

● "वैज्ञानिक" एवं हिं. वि. सा. परिषद से संबंधित सभी विवादों का निर्णय मुंबई के न्यायालय में ही होगा ।

कार्यालय

"वैज्ञानिक" हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद,
सूचना प्रभाग, सेन्ट्रल काम्प्लेक्स
भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र
बम्बई - 400 085

"वैज्ञानिक" का शुल्क

पाठकों से अनुरोध है कि यदि उनका 'वैज्ञानिक' का शुल्क समाप्त हो गया हो, तो उसे भेज कर नवीनीकरण करा लें । यदि संभव हो तो आजीवन सदस्य बन जायें ।

टिप्पणियां

1. रजो रहस्य निरावरण : एक नयी परिकल्पना **76**
— शील शर्मा

2. प्लेग का अस्तित्व : एक पुनरावलोकन **78**
— डॉ. आदेश कुमार

3. हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में कंप्यूटर का प्रयोग **81**
— डॉ. रेखा गोविल

बाल विज्ञान

● **नदियां पश्चिम की ओर होकर क्यों बहती हैं ?** **83**
● **मनुष्य कितना ताप सहन कर सकता है ?** **83**
● **फूंक मारने पर मोमबत्ती क्यों बुझ जाती है ?** **84**
● **जलती लकड़ी पर पानी डालने से वह क्यों बुझ जाती है ?** **84**

–श्याम लाल धीमान

विज्ञान समाचार

● **भा. प. अ. केंद्र से** **85**
● **अन्य समाचार** **86**

विज्ञान कविताएँ **92**

कुछ फूल : कुछ कांटे **94**

सदस्यता आवेदन पत्र (प्रारूप)

अध्यक्ष,
हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद, धातुकी प्रभाग,
भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, मुंबई 400 085.

प्रिय महोदय,

मैं, हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद (भापअ केंद्र, मुंबई) का आजीवन/ साधारण सदस्य बनने का इच्छुक हूं । मेरा निजी विवरण निम्नलिखित है । मैं सदस्यता शुल्क* साथ भेज रहा हूं । कृपया मुझे परिषद का आजीवन / साधारण सदस्य बनाने का कष्ट करें ।

नाम	: _____	आयु	: _____
पता-कार्यालय	: _____	पता-निवास	: _____
	_____		_____
व्यवसाय	: _____		: _____
हिंदी की पात्रता	: _____	प्रवीणता	: _____
(Qualification)	: _____	(Specialisation)	: _____
विशेष रुचि	: _____	हस्ताक्षर	: _____
अन्य विवरण	: _____	दिनांक	: _____

*शुल्क 'हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद' के नाम डिमांड ड्राफ्ट (मुंबई) अथवा भारतीय पोस्टल आर्डर द्वारा ही भेजें ।

संपादकीय

'विज्ञान एवं मनोविज्ञान के बीच फंसा मानव'

आज के वैज्ञानिक युग में हम कंप्यूटर की सहायता से मानव मस्तिष्क द्वारा संभव हो सकने वाले लगभग सभी कार्यों को कर पाते हैं। संचार तकनीक में हुए विकास द्वारा, कुछ समय पहले तक काल्पनिक लगने वाली जानकारियों को आज पलभर में तथा बहुधा ऑन लाइन (घटना के साथ-साथ) प्राप्त कर सकते हैं। प्राणी जगत की मूल इकाई 'जीन' में परिवर्तन / संशोधन लाकर जैविक विज्ञान में क्रांति आ पायी है। इन सबके साथ, पृथ्वी से चांद, मंगल ही नहीं बृहस्पति तक पहुंचने की कल्पना को साकार करने वाले वैज्ञानिक युग में यदा कदा रहस्यमयी/चमत्कारिक घटनाओं/परिघटनाओं का प्रदर्शन हालांकि काफी हास्यापद लगता है फिर भी यदि देखा जाय तो इन परिघटनाओं के प्रदर्शन से लोगों का प्रभावित होना कोई आश्चर्यजनक नहीं लगता है। किसी भी तथ्य के बारे में अज्ञानता अथवा अस्पष्ट जानकारी होने की अवस्था में जब उसे नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया जाय तो वह चमत्कार का रूप ले लेता है। इस प्रकार विज्ञान एवं मनोविज्ञान के अपने-अपने सापेक्षिक प्रभाव द्वारा समय समय पर कई चमत्कार प्रदर्शित हुए हैं। ऐसा बहुधा देखा गया है कि जब कोई घटना आरंभ में सामने आती है तो वह रहस्यमयी एवं चमत्कारिक लगती है परंतु उस संबंध में वैज्ञानिकों द्वारा स्पष्ट जानकारी दी जाने पर वह सहज सी लगती है।

विज्ञान किसी विषय के सुव्यवस्थित ज्ञान पर आधारित होता है जिसमें सिद्धांत, साक्ष्यों द्वारा प्रकृति में हो रही घटनाओं/परिघटनाओं को सिद्ध किया जाता है। यथार्थ ही इसका मूल सिद्धांत होता है। दूसरी ओर मनोविज्ञान का सीधा संबंध मानव मस्तिष्क (स्वस्थ या अस्वस्थ) में चेतन अथवा अचेतन अवस्था में चल रही प्रक्रियाओं से है। आत्मा, मन (चित्त), श्वास इसके प्रमुख घटक कहे जाते हैं। इसीलिए यह काफी हद तक आत्मपरक/स्वानुभूतिमूलक बन जाता है। अभी तक विज्ञान ने जिन भौतिक नियमों का प्रतिपादन किया है वे सभी जीव विज्ञान में लागू नहीं होते हैं इसीलिए हर प्राणी किसी न किसी रूप में दूसरे से भिन्न होता है। हर व्यक्ति का दृष्टिकोण अलग रहता है और उसकी आस्थाएं अलग होती हैं। 'वोल्टाअर' के शब्दों में किसी परिघटना में आस्था वह अवस्था है जब वह तर्क की शक्ति से दूर हो जाता है। यूं भी यह हमेशा आवश्यक नहीं है कि कोई घटना घटे ही, तभी उस पर विश्वास किया जाय।

विज्ञान एवं मनोविज्ञान के बीच फंसे मानव की दुनिया में चमत्कारों का सिलसिला उसके उद्भव काल के से ही चला आ रहा है। अभी हाल ही में 21 सितंबर 1995 को गणेश मूर्तियों द्वारा दुग्धपान की घटना को लेकर गणेश रूपी भगवान में आस्था रखने वाले लोग न केवल सारे भारत वर्ष में बल्कि विदेशों में भी इस घटना को सत्य मान कर आत्म संतुष्टि का अनुभव करने लगे। इस घटना के बारे में सबसे बड़ा चमत्कार तो यही लगता है कि इसे लंदन, अमेरिका तक इतनी शीघ्रता एवं सुनियोजित ढंग से फैलाया गया। निश्चित ही यह किसी विलक्षण बुद्धि वाले व्यक्ति का ही काम हो सकता है। यह भी चमत्कार से कम नहीं है कि जितनी शीघ्रता से यह बात फैली उतनी ही शीघ्रता से लुप्त भी हुई।

इसी प्रकार इसी सदी में कुछ और भी घटनाएं हुई हैं जिनमें से कुछ एक का उल्लेख असंगत नहीं होगा। आयरलैंड में 15 अगस्त 1920 को टैम्पलमोर के टाउनहाल के जलाये जाने के 6 दिन बाद टोमस ड्वान और उसकी साली माहेर के घर की सभी धार्मिक मूर्तियों तथा फोटो चित्रों से खून निकलने लगा। मार्च 1919 में एक बारह वर्षीय लड़की ने उत्तरी स्पेन के लिम्पियास के गिरजाघर में ईसामसीह की लकड़ी की एक ऐसी मूर्ति देखी जिसके गले तथा चेहरे पर से पसीना आता देखा गया। इसी प्रकार मूर्ति की आंखों का हिलना डुलना, रोटी माता जैसी घटनाएं भी हुई हैं। रोटी माता के हर दूसरे या तीसरे दिन दोहरा होकर टुकड़ों में टूटना खमीकरण (फर्मेन्टेशन) की एक सहज वैज्ञानिक प्रक्रिया थी। मूर्तियों/पेंटिंगों में आंखों का हिलना-डुलना, क्रिस्टल गेजिंग (क्रिस्टल में देखकर भविष्य बतलाने) से संबंध रखता है। ऑक्सफोर्ड के एक विद्वान एण्ड्रू लांग के अनुसार जिन घटनाओं के बारे में

क्रिस्टल में देखकर भविष्य वाणी की जाती है उनका प्रतिबिंब चेतन या अचेतन अवस्था में उसके मस्तिक में किसी न किसी रूप में रहता है। इन लोगों में कुछ ऐसी विलक्षण शक्ति/सामर्थ्य होती है कि वे चीजों को भांप लेते हैं। ऐसा गुण विलक्षण बुद्धि वाले वैज्ञानिकों जैसे आइंस्टीन, न्यूटन, रामण आदि में भी था और कुछ अन्य वैज्ञानिकों में आज भी है जिससे वे क्रांतिकारी वैज्ञानिक खोज कर पाये एवं कर पा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में वैज्ञानिकों का दायित्व घटना की संपूर्ण व्याख्या कर भ्रम को हटाना होता है जबकि तथाकथित चमत्कारी/पाखंडी लोग भ्रम पैदा करने में अपनी विलक्षण शक्ति पूरी तरह लगा देते हैं। रेगिस्तान में दिखने वाली मरीचिका को पाखंडी चमत्कार कह कर लोगों को भ्रमित करता है जबकि वैज्ञानिकों ने इसे प्रकाश के संपूर्ण आंतरिक परावर्तन की संज्ञा दी है।

दुग्धपान की परिघटना की व्याख्या कैपीलरी क्रिया के आधार पर की गयी है। चम्मच जब क्षैतिज से लगभग 15° से अधिक के कोण पर होती है तो दूध के अपने द्रव्यमान तथा गुरुत्वाकर्षण के कारण चम्मच की सतह व दूध के बीच निहित आसंजन (एडहेशन) बंधन टूट जाता है तथा दूध बहने लगता है। दूध के बहने, और उसके पृष्ठ तनाव एवं घनत्व के कारण कृत्रिम कैपीलरी बनती है। दूध में सामान्यत: 15 से 25% ठोस पदार्थ रहता है। बार-बार दूध बहने और वाष्पित होने से कृत्रिम कैपीलरी, कैनाल कैपीलरी में परिवर्तित हो जाती है। दोनों प्रकार की कैपीलरी में दूध के एक सिरे से दूसरे सिरे पर बहने पर हवा का दबाव बनता है। यह दबाव दूध को चम्मच में से चूस कर साइफन द्वारा कैपीलरी में बहाता है, जिसे देख पाना आसान नहीं है। कृत्रिम कैपीलरी का उपयोग वस्त्र उद्योग, मशीन उद्योग, वायुयानों की मशीनों में केंद्रीय लुब्रीकेशन प्रणाली द्वारा तरल पदार्थ डालने की क्रिया में हो रहा है।

इस परिघटना के बारे में नेहरू प्लेनेटोरियम, बंबई के निदेशक डॉ. वेंकटवर्धन ने कहा कि इसे एक मनोवैज्ञानिक परिघटना की संज्ञा दी जा सकती है। हालांकि इसे जादुई कहना अधिक उपयुक्त रहेगा। चमत्कार कही जाने वाली घटनाएं कई लोगों की सामूहिक तथा प्रबल इच्छा शक्ति के परिणामस्वरूप परिलक्षित होती हैं तथा फैलती भी हैं। ये ऐसे लोग हैं जो चमत्कार के विरोध में कुछ भी सुनने को तैयार नहीं होते हैं क्योंकि वे इसे ही सत्य मानते हैं। इसे उनकी नादानी, आस्था, उल्लास, प्रत्याशा, कुछ भी समझ सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मानव मस्तिष्क इतना परिष्कृत है कि वह कभी-कभी उस बात/तर्क को बखूबी अस्वीकार कर देता है जिसे वह नहीं चाहता है।

विज्ञान द्वारा निसंदेह मानव जाति की सोच में आमूल परिवर्तन आया है। वह कई अंध विश्वासों से ऊपर उठा है उसमें जागरूकता आयी है। यही कारण है कि 24 अक्टूबर 1995 को पूर्ण सूर्य ग्रहण के दिन भारत जैसे विकासशील देश में लाखों का जन समूह इसे एक प्राकृतिक घटना के रूप में देखने घर से बाहर निकला जबकि पहले ऐसा नहीं होता था। आज की स्थिति में भी यदि वास्तविक जीवन को देखें तो स्पष्ट होगा कि यह केवल विज्ञान और उसके भौतिक साधनों पर नहीं चलता है। मनोविज्ञान का अपना एक महत्व है। मनुष्य का किसी ऐसी शक्ति में आस्था रखना जो उसे कष्ट, असफलता के समय ढ़ांढ़स बंधाता है, उसकी मनोवैज्ञानिकता का एक पहलू है। मनोविज्ञान का प्रभाव रोगी के उपचार में उल्लेखनीय पाया गया है। यह कुछ ऐसा है जैसे कि किसी वैज्ञानिक शोध में हम पाते हैं कि अमुक तत्व प्रतिक्रिया में सीधे भाग नहीं लेता बल्कि उसकी मात्र उपस्थिति प्रतिक्रिया को अत्यधिक प्रभावित करती है। इस प्रकार जीवन के संदर्भ में विज्ञान एवं मनोविज्ञान, दोनों की ही सार्थकता स्पष्ट है। इसलिए मनोविज्ञान को नकारा न जाय और हर घटना को केवल वैज्ञानिक दृष्टि से न देखा जाय।

प्रस्तुत अंक को, अप्रैल-जून तथा जुलाई-सितंबर 1995 के संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इस अंक में 1994 की अखिल भारतीय हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता के बाकी पुरस्कृत लेखों के अतिरिक्त, प्रतियोगिता में शामिल कुछ अन्य लेख भी दिये गये हैं। साथ ही अप्रैल 1995 में पुणे में हुई वैज्ञानिक संगोष्ठी में प्रस्तुत कुछ वार्ताओं से संबंधित लेखों का भी समावेश यहां किया गया है। प्रकाशन संबंधी विलंब के लिए हमें खेद है। आशा है कि पाठकों / लेखकों का सहयोग बना रहेगा।

डॉ. गोविंद प्रसाद कोठियाल

हीरे का युग

डॉ. (श्रीमती) वीणा सागर
ईंधन रासायनिकी प्रभाग,
भा. प. अ. केंद्र, बंबई - 400 085

'हीरा' शब्द प्राय: राजसी वैभव की याद दिलाता है, पर आधुनिक युग में हीरों के अनके प्रौद्योगिक उपयोग हैं । चूंकि प्राकृतिक हीरे काफी कीमती होते हैं अत: औद्योगिक स्तर पर हीरों के निर्माण की नयी विधियों की खोज जारी है । प्रस्तुत लेख में कृत्रिम हीरों के बारे में विस्तृत रोचक जानकारी दी गयी है ।

हीरे लेपित पदार्थों के निर्माण कार्य में संसार के अनेक वैज्ञानिक लगे हुए हैं । पृथ्वी के गर्भ में प्राकृतिक हीरे पाये जाते हैं, जो भारी दबाव तथा उच्च तापमान से बनते हैं । लिखित इतिहास काल से हीरे का सौंदर्य, उसकी कठोरता तथा उसकी दुष्प्राप्यता – विशेष रूप से 1 सेंमी. आमाप से बड़े हीरे – आदि कारणों से हीरे ने हर एक के मन को लुभाया है । इस शताब्दी के आरंभ में प्राकृतिक रूप से पाये जानेवालें हीरों की संख्या बहुत कम हो गयी जो विभिन्न उपयोगों के लिए उनकी बढ़ती हुई मांग को पूरा करने में असमर्थ थी ।

कृत्रिम हीरे के निर्माण की शुरुआत सत्रहवीं शताब्दी में हुई मगर इस कार्य में सफलता मिली बीसवीं शताब्दी के मध्य में । 1953 में स्वीडन में सल्लेमन्ना स्वेन्स्का इलेक्ट्रिका-एबी ने तथा 1954 में अमरीका में जनरल इलेक्ट्रिक ने ग्रेफाइट से कृत्रिम हीरे का निर्माण किया । इसके निर्माण में भारी दबाव (800,000 से 1,800,000 psi) तथा उच्च तापमान (1200-2400 ^{0}से) का प्रयोग किया गया । कृत्रिम हीरे के निर्माण के लिए अन्य उच्च दबाव वाली विधि 1961 में शिकागो में विकसित की गयी जहां विस्फोट से उत्पन्न प्रघाती तरंगों (शॉक वेव्स) से स्फटिक ग्रेफाइट को हीरे में परिवर्तित किया गया ।

आज संसार में प्रतिवर्ष लगभग 30 से 40 टन कृत्रिम हीरों का निर्माण उपर्युक्त विधियों द्वारा किया जाता है । इन हीरों का उपयोग कटाई यंत्रों, आरा मशीनों तथा छेद यंत्रों आदि के लिए किया जाता है जहां इन यंत्रों की धार वाली सतह पर हीरे का लेपन चढ़ाया जाता है। किसी सतह पर हीरे के चूर्ण का लेपन चढ़ाने को हीरे का जड़ाव (डायमंड स्टडिंग) कहते हैं । इन कामों के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले हीरे प्राय: काले रंग के होते हैं जिसका कारण है ग्रेफाइट का विधि में समावेश तथा प्रयोग में लाये गयी धातुओं के कार्बाइड का बनना । पर इसका अर्थ यह नहीं कि सभी कृत्रिम हीरे काले रंग के ही होते हैं ।

इस विधि का प्रयोग करके रत्न की गुणवत्ता वाले तथा बड़े आमाप वाले हीरे का भी निर्माण किया जा चुका है । 1970 में जनरल इलेक्ट्रिक ने सर्व प्रथम इसका निर्माण किया, तत्पश्चात् 1985 में जापान में सुमितोमो इलेक्ट्रिक ऑफ जापान ने 2 कैरट (0.4 ग्राम) द्रव्यमान वाले हीरे के स्फटिक का निर्माण किया जिसका महत्तम आकारमान 8 मिमी. था । दक्षिण अफ्रीका के डी बिअर्स (De Beers) ने इससे भी बड़े आमाप वाले (17 मिमी.) हीरे का निर्माण किया । इन हीरों के स्फटिकों में नाइट्रोजन की उपस्थिति से इनका रंग आकर्षक पीला होता है । जवाहरात उद्योग इन हीरों के बारे में सतर्क है तथा उन्होंने इन कृत्रिम सुमितोमो हीरों को प्राकृतिक रूप से पाये जानेवाले हीरों से पहचानने की विधियां ढूंढ़ निकाली हैं। सुमितोमो हीरों का प्रयोग जवाहरात में नहीं किया जाता मगर उनकी उच्च ऊष्माचालकता के गुण से इलेक्ट्रॉनिकी उद्योग में ऊष्मानिवेशक(हीट सिंक) के रूप में उनकी मांग अवश्य है ।

1962 में यूनियन कार्बाइड के वैज्ञानिकों ने मीथेन गैस के रासायनिक विघटन से हीरे की फिल्म (परत) के निर्माण का पेटेंट लिया। यह विघटन 1000^0 सें तापमान पर तथा बहुत ही कम दबाव (0.02 psi) में किया गया। इस विधि के अनुसंधान से हीरे के स्फटिकों से विलेपित फिल्म के निर्माण के द्वार खुल गये। एक परत के ऊपर दूसरी परत के निर्माण की इस विधि को रायानिक वाष्प निक्षेपण (CVD) कहा जाता है। इस अनुसंधान से हीरे के फिल्मों की मांग बढ़ गयी। रूसी वैज्ञानिकों ने 1980 तक हर घंटे में 1 माइक्रोमीटर हीरे की फिल्मों का निर्माण शुरू किया। इस दौरान जापान में एक अन्य वाष्प निक्षेपण विधि पर अनुसंधान चल रहा था जिससे व्यापारिक तौर पर इस फिल्म का निर्माण संभव था।

हीरे की फिल्म का प्रयोग हर क्षेत्र में; जैसे चिकित्सा विज्ञान, सुरक्षा, प्रकाशिकी, माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी, धातु विज्ञान, सिरामिक्स तथा अन्य असंख्य कार्यों के लिए हो सकता है। तालिका - 1 में हीरे के विविध गुणधर्म व उपयोग के विभिन्न क्षेत्रों का विवरण दिया गया है। हीरे की फिल्म के विविध उपयोगों के बारे में विस्तारपूर्वक विवेचन नीचे प्रस्तुत है।

सुरक्षा के क्षेत्र में हीरे की फिल्म का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि इस हीरे में कम मात्रा में बोरॉन तथा फॉस्फोरस मिलाया जाये तो यह पदार्थ एक आदर्श अर्धचालक बन जाता है जो सिलिकॉन या जर्मेनियम आर्सेनाइड की जगह प्रयोग में लाया जा सकता है। सभी प्रकार के विकिरणों के लिए हीरा बहुत ही कठिन या अपारदर्शक है तथा यह अंतरिक्ष में परमाणु बम के विस्फोट के बाद वाले वातावरण में भी सुरक्षित रहता है। सुरक्षा व्यवस्थापन के योजनाकर्ता यह जानते हैं कि उच्च तकनीक वाले सुरक्षा अस्त्रों में प्रयोग किये जानेवाले समाकलित परिपथों (इंटिग्रेटेड सर्किटों) का विनाश परमाणु विस्फोट से निर्मित विकिरणों के प्रभाव से हो सकता है। मगर हीरे की फिल्म के प्रयोग से निर्मित समाकलित परिपथों के उपयोग से यह विनाश टाला जा सकता है।

चिकित्सा विज्ञान में हीरे की फिल्म से जड़ित दंतावलि (डेन्चर्स), हृदय वाल्व तथा कृत्रिम जोड़ों का आयुकाल बहुत ज्यादा होगा। आजकल प्रयोग में लाये जानेवाले कमर के जोड़ कई बार टूट जाते हैं। हमारे शरीर में अत्यधिक संक्षारक वातावरण है जिसका धातुओं की सतह पर असर होता है और जोड़ों के टूटने की प्रक्रिया शुरू होती है। जोड़ों पर हीरे की फिल्म का विलेपन चढ़ाने से वह रासायनिक तथा अन्य प्रभावों से विमुक्त रहता है और मानव शरीर में एक लंबे अरसे तक शरीर का ही एक हिस्सा बनकर रहता है। शल्यक्रिया में प्रयुक्त चाकू (Scalpel) हमारी त्वचा को फाड़ देते हैं। इनकी जगह पर हीरे की फिल्म से विलेपित चाकू के प्रयोग से त्वचा का छेदन ज्यादा अच्छी तरह से किया जा सकता है तथा इससे होने वाले जख्म भी जल्द ही भर आते हैं।

हीरे की फिल्म का प्रयोग उपनेत्र लेन्स, हवाई जहाज की खिड़कियां तथा जेट फाइटर की कैनोपी को विलेपित करने के लिए किया जा सकता है। सामान्य कांच की तरह हीरा दृश्य प्रकाश के लिए पारदर्शक है, इतना ही नहीं बल्कि वह सूक्ष्म तरंगों तथा अवरक्त किरणों के लिए भी पारदर्शक है - जो गुणधर्म सामान्य कांच में नहीं पाया जाता। इस गुणधर्म का उपयोग अधिक शक्तिशाली लेसर किरणों - विशेष रूप से पराबैंगनी लेसर किरणों के निर्माण में किया जा सकता है। पराबैंगनी किरणों की तरंग दैर्घ्य बहुत कम होने के कारण इनका उपयोग अंतरिक्ष में स्थापित युद्ध संचालन केंद्रों से प्रकाशिकी संचारण के लिए किया जा सकता है। अधिक शक्तिशाली लेसर, जैसे स्टार वार के मुक्त इलेक्ट्रॉन लेसर, को हीरे से जड़ित प्रकाशिकी पुर्जों से अधिक फायदा हो सकता है क्योंकि हीरे की ऊष्मा चालकता तांबे से करीब 5 गुना ज्यादा होने से ऊष्मा का वहन बहुत जल्दी हो जाता है।

माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी के क्षेत्र में हीरे की फिल्म के उपयुक्त गुणधर्मों से, इस क्षेत्र में काम करनेवाले वैज्ञानिकों में बहुत उत्साह निर्माण हुआ है। संगणक के कार्ड डिस्क संचालक पर हीरे लेपित फिल्म के उपयोग से 'शीर्ष दुर्घटना' पर रोक लगायी जा सकती है। डिस्क तथा संचालक में जितना कम अंतर हो उतना ही डेटा-संचयन घनत्व बढ़ता है। हीरे की फिल्म के प्रयोग से यह अंतर बहुत ही कम हो सकता है।

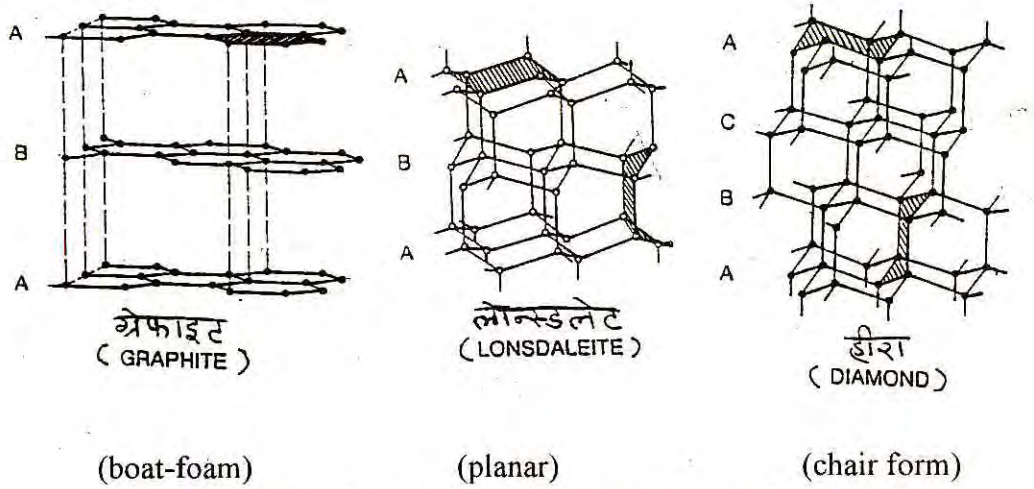

चित्र-1 : ग्रेफाइट, लोन्स्डलेट तथा हीरे में कार्बन के परमाणुओं की रचना

हीरा एक श्रेष्ठतम ऊष्माचालक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कटाई के यंत्रों के लिए इसका उपयोग कितना महत्व रखता है। यंत्रों की धार के स्थान का ऊष्मा वहन इसके उपयोग से बहुत ही जल्द हो जाता है जिससे यंत्रों का सामान्य क्षरण (degrading) - जो उच्च तापमान से होता है - कम होता है। माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी में सर्किट बोर्ड के निर्माण में जहां लाखों ट्रान्जिस्टर बहुत ही कम जगह में भरे होते हैं ऊष्मा-चालकता एक गंभीर समस्या है। इसलिए हीरे की फिल्म से विलेपित पदार्थों के प्रयोग से इस समस्या का मुकाबला किया जा सकता है। वर्तमान में इन यंत्रों में निर्मित ऊष्मा को कम करने के लिए बिजली के पंखे का प्रयोग किया जाता है, जो अपने बड़े आकार के कारण असुविधाजनक होते हैं। भविष्य में हीरे की फिल्म से बने हुए ट्रान्जिस्टर, प्रकाश उत्सर्जन करनेवाले डायोड, रेक्टिफायर, संसूचक आदि अनेक ठोस अवस्थीय उपकरण प्रयोग में लाये जाने की संभावना है।

धातु प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भी हीरे की फिल्म का महत्वपूर्ण उपयोग हो सकते हैं। विद्युत जनित्र में हीरे की फिल्म से विलेपित टरबाइन ब्लेड्स के प्रयोग से पैसों की काफी बचत हो सकती है। आजकल जो ब्लेड प्रयोग में लाये जाते हैं, वे निरंतर उच्च गति के कारण खराब हो जाते हैं जिन्हें बदलने के लिए पूरे जनित्र को ही हटाना पड़ता है। कॅम्प्रेसर ब्लेड - विशेष तौर पर जेट इंजन के लिए प्रयोग में लाये जानेवाले - के लिए भी हीरे-लेपित पदार्थ का उपयोग करके ब्लेडों को जल्दी खराब होने से बचाया जा सकता है। इंजन तथा अन्य संयंत्रों में गतिशील भागों; जैसे इम्पेलर, वाल्व तथा बियरिंग को हीरे की फिल्म से विलेपित करके उनका आयुकाल बढ़ाया जा सकता है। अम्ल तथा अन्य विषैले पदार्थों के पात्रों पर हीरे की फिल्म की परत चढ़ाने से वे पात्र उन पदार्थों के रासायनिक प्रभावों से मुक्त रहेंगे। इस फिल्म के प्रयोग से सिरामिक पदार्थों को भी फायदा होगा। सिरामिक इंजन के भाग जैसे पिस्टन, रॉड तथा वाल्व को जल्दी खराब होने से बचाया जा सकता है।

हीरा तथा ग्रेफाइट दोनों ही शुद्ध कार्बन के ही रूप हैं जिनके स्फटिक की रचना सर्वज्ञात है, मगर दोनों के गुणधर्म बहुत ही भिन्न हैं। कार्बन के अन्य स्फटिक रूप जिसके बारे में अभी ज्यादा जानकारी हासिल नहीं हुई है, वे हैं - लोन्स्डलेट, जो उल्कापिंडों में पाया जाता है, तथा कार्बाइन। लोन्स्डलेट को षटकोनी हीरा भी कहा जाता है क्योंकि उसकी रचना तथा गुणधर्म हीरे से बहुत मिलते जुलते हैं। कार्बन के इन तीनों स्फटिक रूपों की

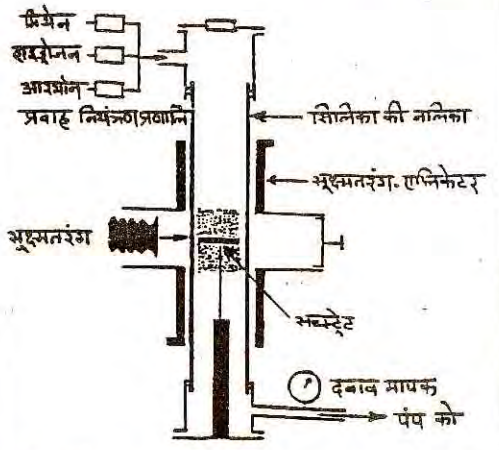

चित्र-2 : रासायनिक वाष्प निक्षेपण प्रणाली
(सूक्ष्मतरंग प्लाज्मा)

रचना चित्र-1 में दिखायी गयी है। हीरा तथा लोन्सडलेट के स्फटिकों की आदर्श रचना चतुष्कोणीय बंधित कार्बन से बनी है, जब कि ग्रेफाइट की रचना त्रिसमनताक्षीय बंधित (trigonally bonded) कार्बन से बनी है। चित्र-1 में दिखायी गयी इन स्फटिकों की रचना से उनके गुणधर्मों में समानता तथा उनमें अपेक्षित विभिन्नताओं के बारे में जानकारी मिलती है। ग्रेफाइट की रचना बेन्जीन जैसी है जहां दृढ़ बंधित परत होती है किंतु दो परतों के बीच दुर्बल बंधन होता है। हीरा तथा लोन्सडलेट में चार समान sp^3 बंध होने से एक सममित त्रिसमनताक्षीय ढांचा बनता है।

हीरे के गुणधर्म पर आधारित उनके चार विभिन्न प्रकार होते हैं। यह वर्गीकरण उनके विद्युतीय तथा प्रकाशकीय गुणधर्म तथा उनमें उपस्थित अन्य अशुद्धियों की मात्रा पर आधारित है।

प्रकार -1-a : इस प्रकार के हीरे प्राकृतिक हीरों की कुल संख्या के 98 प्रतिशत होते हैं। इनमें नाइट्रोजन की मात्रा 0.1 प्रतिशत होती है तथा 320 नेनोमीटर से बड़े तरंग दैर्ध्य वाले प्रकाश किरणों के लिए पारदर्शक होते हैं। इसकी ऊष्माचालकता 9 वाट / सेमी. के. तथा विद्युत प्रतिरोध 10^{16} ओम सेंमी. से अधिक होता है।

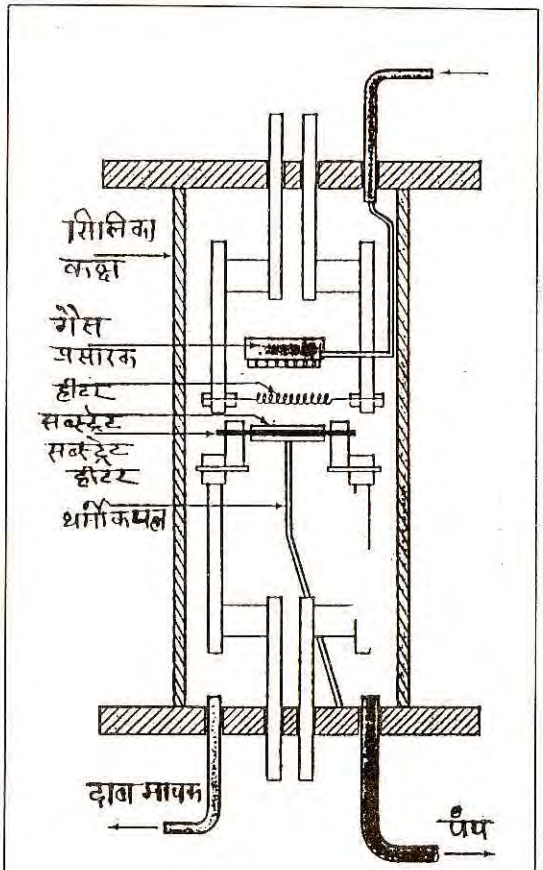

चित्र-3 : रासायनिक वाष्प निक्षेपण प्रणाली
(प्रतिरोध तापन)

प्रकार -1-b : इनकी संख्या कुल प्राकृतिक हीरों की संख्या का 1 प्रतिशत है। प्राय: भारी दबाव वाली विधि से बने कृत्रिम हीरे इसी प्रकार के होते हैं। इनमें नाइट्रोजन की मात्रा 0.2 प्रतिशत होती है तथा उनके अन्य गुणधर्म 1a जैसे ही होते हैं।

प्रकार -2- a : इस प्रकार के हीरे प्रकृति में बहुत ही कम पाये जाते हैं। इनमें उपस्थित नाइट्रोजन की मात्रा नगण्य होती है। ये हीरे 225 नेनोमीटर से अधिक तरंग दैर्ध्य वाली प्रकाश किरणों के लिए पारदर्शक हैं। इनकी ऊष्माचालकता 26 वाट / सेमी. के. है जो तांबे तथा चांदी से 4 गुना ज्यादा है।

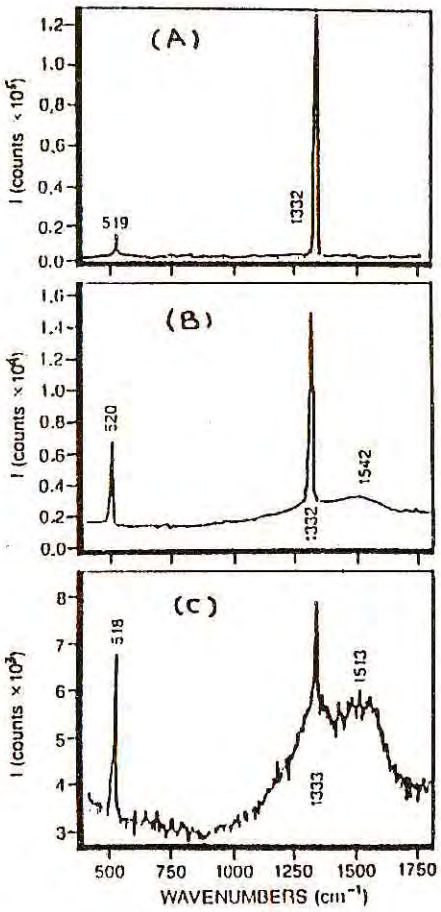

चित्र-4 : सिलिकॉन पर बनी हीरे की फिल्म के विभिन्न नमूनों के रामन प्रकीर्णन वर्णक्रम

प्रकार -2-b : इनमें भी नाइट्रोजन नहीं होती पर बहुत ही कम मात्रा में बोरॉन होता है जिससे ये नीले रंग के दिखाई देते हैं। इनका विद्युत प्रतिरोध 10-1000 ओम सेंमी. होता है। बोरॉन की उपस्थिति से ये p प्रकार के अर्धचालक होते हैं। इस प्रकार के हीरे बहुत ही शुद्ध होते हैं और बहुत ही कम संख्या में पाये जाते हैं। सुप्रसिध्द 'होप' (Hope) हीरा इसी प्रकार का है।

1980 तक वैज्ञानिकों के अथक प्रयत्नों के फल स्वरुप कृत्रिम हीरे के निर्माण के लिए कम दबाव वाली अनेक विधियों का अनुसंधान हुआ। प्राय: इस विधि में एक अभिकर्मक गैस, मीथेन या अन्य कार्बन समावेशक गैस को वातावरण के दबाव से कम दबाव पर क्रियाशील किया जाता है। इस समय मीथेन गैस में >95 प्रतिशत हाइड्रोजन मिलाया जाता है तथा यह मिश्रण प्लाज्मा या 2000^0 से. तापमान के तंतुक (फिलामेंट) पर प्रवाहित किया जाता है। बाद में यह मिश्रण 800^0 - 1000^0 से. तापमान वाले सब्स्ट्रेट पदार्थ के पृष्ठभाग के संपर्क में आता है और सब्स्ट्रेट की सतह पर हीरे की फिल्म बन जाती है।

मीथेन गैस $\xrightarrow{\text{सक्रियण}}$ कार्बन (हीरा) + हाइड्रोजन गैस

इस विधि को चित्र-2 तथा -3 में दिखाया गया है। इससे हर घंटे में 0.1 से 10 माइक्रोमीटर तक हीरे की फिल्म का निर्माण किया जा सकता है।

इन विधियों से जुड़ी कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं:

1) समुचित मात्रा में हीरे की फिल्म के निर्माण के लिए मीथेन गैस को क्रियाशील करना अनिवार्य है।

2) गैस को क्रियाशील करनेवाली विधि के प्रकार पर हीरे की फिल्म के निर्माण की सहजता निर्भर होती है।

3) हाइड्रोकार्बन गैस के रासायनिक गुणधर्मों का कोई विशेष महत्व नहीं है। एलिफेटिक, एरोमैटिक हाइड्रोकार्बन तथा कीटोन और अल्कोहल आदि का प्रयोग इस विधि में किया जा सकता है।

4) फिल्म का निर्माण पूर्ण क्षमता से होने के लिए हाइड्रोजन आवश्यक है।

5) कम मात्रा में मीथेन गैस में ऑक्सीजन मिलाने से फिल्म का निर्माण गतिमान हो जाता है।

6) हीरे के निर्माण के साथ-साथ ग्रेफाइट भी बन जाता है।

7) हीरे के निर्माण की गति तापमान पर निर्भर होती है। यह गति किसी विशिष्ट तापमान पर महत्तम होती है और उससे कम या अधिक तापमान पर यह गति कम होती है। इसका कारण है, हीरे तथा ग्रेफाइट के निर्माण में होनेवाली स्पर्धा।

तालिका - 1 : हीरे की फिल्म के गुणधर्म तथा उनके उपयोग

गुणधर्म	उपयोग
● कठोरतम ज्ञात पदार्थ	● कटाई यंत्रों की धार पर लेपन के लिए
● न्यून घर्षणांक	● अपघर्षी लेपन के लिए
● उच्च ऊष्माचालकता	● बियरिंग पर लेपन के लिए
● न्यून ऊष्मीय प्रसारण	● इलेक्ट्रॉनिकीय यंत्रों में ऊष्मा निवेशक के रूप में
● ऊष्मा प्रतिरोधक	● अधिक शक्तिशाली सूक्ष्मतरंग उपकरणों में
● अम्ल प्रतिरोधक	● रेडियोफ्रिक्वेन्सी इलेक्ट्रॉनिकीय उपकरणों में
● विकिरण प्रतिरोधक	● उच्च गतिमान इलेक्ट्रॉनिकीय उपकरणों में
● विद्युत अवरोधक	● प्रतिकूल, कठोर, वातावरण में संसूचक के रूप में
● उच्च बैंड गैप वाले अर्धचालक (p अथवा n प्रकार के)	● खिड़की तथा लेन्स के लिए
● न्यून डायइलेक्ट्रिक कारक	
● दृश्य प्रकाश तथा अवरक्त किरणों के लिए पारदर्शक	
● बृहत अपवर्तनांक	

उपर्युक्त कम दबाववाली विधि से निर्मित स्फटिक-हीरे की फिल्म, 'हीरा सदृश कार्बन' (DLC) फिल्म से अलग होती है। DLC फिल्म में विभिन्न प्रकार के कार्बन के अस्फटिक रूप (अस्फटिक रूप में बहुत सूक्ष्म स्फटिक तक) पाये जाते हैं और उनमें हाइड्रोजन की मात्रा 50 अणु प्रतिशत तक होती है। स्फटिक-हीरे की फिल्म को पहचानने के लिए उनके रामन वर्णक्रम से बड़ी सहायता मिल सकती है। रामन प्रकीर्णन, sp^3 बंधित हीरे की अपेक्षा में sp^2 बंधित ग्रेफाइट में 50 गुना ज्यादा होता है। इसलिए हीरे में कम मात्रा में उपस्थित sp^2 बंधित कार्बन को पहचाना जा सकता है। चित्र-4 में तीन रामन प्रकीर्णन वर्णक्रम दिखाये गये हैं जो सिलिकॉन की सतह पर बनी हीरे की फिल्म के हैं। चित्र-4A में उच्च गुणवत्ता वाली हीरे की फिल्म का वर्णक्रम तथा 4B में मध्यम गुणवत्ता वाली हीरे की फिल्म का वर्णक्रम है। चित्र- 4C में हीरे में ज्यादा मात्रा में उपस्थित sp^2 बंधित कार्बन से वर्णक्रम की रचना भिन्न हो गयी है। इन तीनों में 519 cm^{-1} वाली वर्णक्रम रेखा सिलिकॉन से, 1332 cm^{-1} वाले वर्णक्रम रेखा शुद्ध हीरे से तथा 1500-1600 cm^{-1} वाले शिखर (peaks) sp^2 बंधित कार्बन से विकीर्णन से बनी है। अस्फटिक DLC फिल्म के रामन वर्णक्रम में 1332 cm^{-1} वाली वर्णक्रम-रेखा दिखायी देती है।

व्यवसायिक तौर पर हीरे की फिल्म के निर्माण के लिए जो अनुसंधान हो रहा है, उसके निम्नलिखित ध्येय ह; 1) सब्स्ट्रेट का तापमान कम करना, 2) फिल्म के निर्माण की गति बढ़ाना, 3) ग्रेफाइट के निर्माण को रोकना, 4) अनियमित आकारवाले पदार्थों पर एक समान मोटाई वाली फिल्म का निर्माण करना, 5) विभिन्न प्रकार के आधार पदार्थों पर फिल्म बनाना, 6) दोष घनत्व पर नियंत्रण पाना आदि।

हीरे की फिल्म तथा उससे बनी कई वस्तुओं का भविष्य उज्जवल है क्योंकि इनके उपयोग अनगिनत हैं। वैज्ञानिकों को विश्वास है कि इनके जरिये हम एक नये युग में प्रवेश करेंगे जो कहलायेगा- 'हीरे का युग'।

❑❑❑

उदरगैस : कारण, लक्षण एवं उपचार

डॉ. गणेश कुमार पाठक
प्राध्यापक, भूगोल विभाग,
महाविद्यालय दूबेछपरा, बलिया- 277 205

उदर-गैस से लगभग हर व्यक्ति परेशान है, कोई ज्यादा तो कोई कम। यह रोग मुख्यतः हमारी बदलती जीवनचर्या से जुड़ा है। इस लेख में इस रोग के कारणों और इसके घरेलू उपचारों के बारे में बतलाया गया है।

आधुनिक मानव इतना गतिशील हो गया है कि वह समय पर अपनी आवश्यकतानुसार भोजन भी नहीं कर पाता है। इस भाग-दौड़ में आज का मानव कभी आधा पेट भोजन करता है, तो कभी करता ही नहीं । फलतः वह बाजार से चीजें खरीद कर खाता है। जिसमें खट्टी-मीठी, चटपटी चीजें ज्यादा होती हैं। अतः उसे जहां एक तरफ भूख का शिकार होना पड़ता है, वहीं दिनचर्या अव्यवस्थित हो जाने से उसे कब्जियत का भी शिकार होना पड़ता है और यहीं से प्रारंभ हो जाता है, पेट में गैस का बनना, जिसे 'उदर वायु' कहा जाता है। आज शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जो इस रोग से थोड़ा बहुत पीड़ित न हो।

जब हम खाली पेट रहते हैं तो हमारे पेट में गैस बनने की मात्रा भी बढ़ जाती है और यह गैस पेट में जमा होती रहती है, जिससे पाक स्थली में गुड़गुड़ाहट पैदा होने के साथ ही बेचैनी भी बढ़ जाती है। पेट के अंदर उत्पन्न इस गैस के जमा होने की तीन अवस्थाएं होती हैं :

1. पाक स्थली के अग्रभाग में वायु का जमा होना :

यह वायु (गैस) जमा होने की पहली अवस्था है। इस अवस्था में वायु पाकस्थली के अग्रभाग में एकत्र होती रहती है, जिसके फलस्वरूप डकार आने से मुंह स्वतः खुल जाता है और जब वायु बाहर निकल जाती है तो काफी राहत महसूस होती है।

2. आंतों में वायु का जमाव :

यह वायु जमा होने की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में वायु का जमाव आंतों में होने लगता है। इस स्थिति में वायु गुदामार्ग से निकलने का प्रयास करती है, जिसे अधोवायु कहा जाता है। जब पेट साफ नहीं रहता है तो यह वायु काफी दुर्गंध युक्त होती है।

3. पाक स्थली में अत्यधिक वायु का एकत्र होना :

तीसरी अवस्था में वायु पाक स्थली में अत्यधिक मात्रा में एकत्र हो जाती है और रोगी बहुत बेचैन हो जाता है। ऐसी गैस से छुटकारा पाने के लिए उसे बहुत प्रयास करना पड़ता है।

उदर वायु के लक्षण एवं प्रभाव :

जब वायु पाक स्थली में अधिक जमा हो जाती है तो वायु के दबाव के कारण तरह-तरह के कष्ट होने लगते हैं। इनमें से कुछ यहां दिये जा रहे हैं :

- आमाशय के ऊपरी भाग में दर्द एवं यदा-कदा पेट में दर्द का होना,
- दिल पर दबाव का अहसास होना,
- सीने में दबाव, जलन या हृदय दाह का महसूस होना,
- मिचली एवं कभी-कभी चक्कर आना,
- अपच या कब्ज होना, तथा दुर्गंध युक्त मल का निष्कासन

उदर वायु के कारण :

वैसे देखा जाये तो उदर वायु कोई रोग नहीं है, बल्कि यह हमारे गलत आहार-विहार के कारण ही उत्पन्न होती है। इसका उपचार गैस उत्पन्न करने वाले कारणों की रोकथाम ही है। कुछ उपचार इस प्रकार हैं –

भोजन करने की विधि - भोजन करने की विधि पर हमारा स्वस्थ या अस्वस्थ होना विशेष निर्भर करता है। बहुत से लोग भोजन सामने आते ही उस पर झपट पड़ते हैं और जैसे-तैसे जल्दी में पूरी की पूरी थाली का भोजन निगल जाते हैं। जबकि भोजन में संतुष्टि एवं तृप्ति लाने में कम से कम बीस मिनट लगते हैं। कारण कि इस स्थिति में भोजन को रुचि पूर्वक चबा-चबा कर खाना पड़ता है जब कि जल्दी-जल्दी भोजन ग्रहण करने वाले लोग अपेक्षाकृत अधिक भोजन कर लेते हैं, जिससे उनके पेट में तनाव हो जाता है और बेचैन हो जाते हैं, वहीं दूसरी तरफ भोजन पचता भी नहीं है, कारण कि पेट में अधिक भोजन होने के कारण चयोपचय में विलंब होता है एवं आमाशय के खाली होने में अधिक समय लग जाता है। फलतः गैस अधिक बनती है और पाकस्थली में जमा होकर कष्ट को बढ़ा देती है।

भोजन में गुणात्मक सुधार - प्रायः सभी प्रकार के पोषक तत्व,यथा - वसा, प्रोटीन एवं कार्बोहाइड्रेडस के चयोपचय से कार्बन डाईऑक्साइड गैस उत्पन्न होती है। किंतु इन तत्वों को भोजन में सम्मिलित किये बगैर भी हमारे शरीर की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। इसके बावजूद भी गैस उत्पन्न करने वाले ऐसे पदार्थों को या तो कम किया जा सकता है या पूर्णतः समाप्त भी करना संभव है। अधिक गैस उत्पन्न करने वाले ये पदार्थ हैं : दूध से बने पदार्थ, खीर, रबड़ी, तरबूज, आलू, भुट्टा, गोभी, मटर, उड़द की दाल, चीनी एवं तले हुए सभी पदार्थ।

दही का प्रयोग विशेष लाभकारी होता है। कारण कि दही में कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार के जीवाणु होते हैं, जो पाचन क्रिया में सहायता कर प्रणाली को मजबूत बनाते हैं। इसके अलावा फल, फलों का रस, सब्जियों का सूप, पुराने चावल का भात, मूँग की दाल, हरी-ताजी सब्जियां एवं तवे पर सेंकी हुई गरम रोटी उपयोगी होती है। फलों में खास तौर से सेब, संतरा, अनन्नास, मौसम्बी, जामुन, पपीता एवं सब्जियों में कच्चा केला, कच्चा पपीता, तुरई, लौकी, परवल एवं हरी पत्तेदार सब्जियां तथा साग विशेष उपयोगी होते हैं।

हमेशा कुछ न कुछ खाते रहना– प्रायः ऐसा देखने में आता है कि कुछ लोगों की यह आदत होती है कि भर पेट खाना खाने के बाद भी सदैव थोड़ी-थोड़ी देर पर कुछ न कुछ खाते रहते हैं। कई बार मुंह खुलते एवं बंद होते रहने से धीरे-धीरे वायु की अधिक मात्रा आमाशय में पहुंचती है और आमाशय में पहुंचकर तकलीफ पहुंचाती है।

भोजन प्रक्रिया पर ध्यान न देना– भोजन करना एक निश्चित एवं शांत प्रक्रिया है, जबकि आज-कल लोग प्रायः भोजन करते समय घर की समस्याओं को भी लेकर बैठ जाते हैं, फलतः बातचीत के दौरान लगातार मुंह खुलता रहता है, जिससे वायु पाक स्थली में पहुंचकर एकत्र होती रहती है एवं बेचैनी पैदा कर देती है। वहीं दूसरी तरफ भोजन को अच्छी तरह से चबाकर न खाने के कारण अपचन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कारण कि भोजन अमाशय में देर तक रहने से सड़न पैदा हो जाती है, जिससे गैस अधिक उत्पन्न होती है। अतः ऐसी क्रियाओं से बचना चाहिए।

दूषित वस्तुओं का सेवन – दूषित वस्तुओं के सेवन से उदर गैस के बनने में बढ़त होती है, इसलिए अच्छी चीजें भले ही कम मिलें, इनका ही सेवन करना चाहिए। संभवतः इसीलिए कहा भी गया है कि 'थोड़ा खाओ, मगर पेड़ा खाओ।'

भोजन या नाश्ता करते समय वायु का निगलना – प्रायः देखने में आता है कि लोग दूध, चाय या कॉफी पीते समय चुस्कियां लेते हैं, किंतु ऐसा करने से उनके मुंह से बहुत सी वायु पेट के अंदर चली जाती है, जिससे तकलीफ बढ़

जाती है। अत: ऐसे पेय पदार्थ को बहुत गर्म नहीं पीना चाहिए ताकि चुस्कियां न लेनी पड़ें, खास तौर से चाय या कॉफी पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कारण कि इनमें मौजूद टैनिन का मुख्य घटक पॉलीफेनाल है, जिसकी अम्लीय प्रकृति एवं अधिक गर्म होने के कारण आस-पास की कार्बन डाईऑक्साइड घुलकर पेट या आंतों में गड़बड़ी उत्पन्न कर देती है।

अधिक उपवास रखना – भारतीय धार्मिक रीति-रिवाजों में उपवास रखना अच्छा माना जाता है। वैसे भी कभी-कभी उपवास करना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक माना जाता है। किंतु अधिक उपवास करने के कारण आमाशय खाली हो जाता है, जिससे अम्ल बनने की प्रक्रिया तेज हो जाती है और गैस भी अधिक उत्पन्न होती है। अत: अधिक उपवास नहीं रखने चाहिए।

पान या पान मसाले का अधिक सेवन – आजकल पान, तंबाकू एवं पान मसाले का सेवन एक फैशन बन गया है। दिन भर पान या पान मसाला चबाते रहने के कारण ऐसे व्यक्तियों का मुंह सदैव खुला रहता है एवं वायु अंदर जाती रहती है तथा आंतों एवं आमाशय में पहुंचकर तकलीफ उत्पन्न करती है। यही नहीं, खोजों से यह भी सिध्द हो चुका है कि इन पान मसालों के सेवन से अल्सर एवं कैंसर जैसे भयानक रोग भी हो सकते हैं।

धूम्रपान या शराब पीना – अधिक धूम्रपान करने एवं अधिक शराब का सेवन करने से इनमें विद्यमान निकोटिन एवं टार आमाशय में पहुंचकर आमाशय में विद्यमान अम्लीय ग्रंथियों को उत्तेजित कर अधिक अम्लीय रस स्रावित करने लगते हैं जिसके फलस्वरूप गैस भी उत्पन्न होती है एवं आदमी अत्यधिक बेचैनी महसूस करता है।

कार्बन डाइऑक्साइड युक्त आधुनिक शीतल पेय पदार्थों का अधिक सेवन – इन पेयों में मिश्रित रसायन अनेक तरह के रोगों को जन्म देते हैं एवं अधिक पीने से पेट में गैस की मात्रा में भी वृद्धि होती है।

आराम-तलब जीवन व्यतीत करना – शारीरिक श्रम न करने से भोजन ठीक से नहीं पचता है जिसका परिणाम होता है पेट में गैस का बनना। नौकरीपेशा लोग भी बैठे बैठे कार्य करते हैं अत: ऐसे लोगों को गैस की शिकायत अधिक होती है। अत: जो लोग शारीरिक श्रम नहीं करते हों, उन्हें कम से कम सुबह-शाम एक घंटे तक पैदल टहलना विशेष लाभदायक हो सकता है।

मुंह से डकार लेकर गैस निकालना – जब लोग पेट में गैस अधिक हो जाने के कारण परेशान हो जाते हैं तो इस तकलीफ से बचने के लिए मुंह से डकार लेकर गैस को बाहर निकालने का प्रयास करते हैं किंतु इस प्रक्रिया से और अधिक गैस पेट में जाती है जिससे कष्ट कम होने के बजाय अंतत: और बढ़ जाता है। अत: अधोमुखी वायु निकालने की कोशिश न करके प्राकृतिक रुप से स्वत: अधोमुखी वायु ही निकलने देना चाहिए।

पेट को बिल्कुल खाली रखना – जहां एक तरफ अधिक भोजन करना नुकसान दायक होता है, वहीं दूसरी तरफ पेट को बिल्कुल खाली रखने से भी गैस अधिक बनती है। अत: पेट को बिल्कुल खाली नहीं रखना चाहिए। बिस्कुट ही खाकर पानी पी लेना और यदि बिस्कुट भी न मिले तो सिर्फ पानी ही पीते रहना लाभदायक होता है।

गैस को कम करने के कुछ प्राकृतिक एवं घरेलू उपचार इस प्रकार हैं :

- जीरे या अजवायन का लेप पेट पर लगाने से गैस की तकलीफ में आराम मिलता है।
- पेट में अधिक गैस हो जाने पर एक चम्मच लहसुन का रस, आधे चम्मच घी में मिलाकर लेने से लाभ मिलता है।
- सेंकी हुई हींग एवं काली मिर्च एक-एक चुटकी मिलाकर घी के साथ लेने पर लाभ पहुंचता है।
- सौंफ के काढ़े को गुदा भाग से बास्ति देने पर गैस कष्ट में लाभ मिलता है।
- एक चौथाई चम्मच सेंकी हुई हींग घी के साथ लेने पर लाभ पहुंचता है।
- जीरा चूर्ण, हींग का चूर्ण एवं सेंधा नमक एक-एक चुटकी भर मिलाकर लेने से लाभ मिलता है।

(शेष पृष्ठ 49 पर देखें)

लघु कागज उद्योग - रद्दी कागज का उपयोग : संसाधनों की बचत और पर्यावरण संरक्षण

संजीव कुमार गोयल
वैज्ञानिक,
राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसंधान संस्थान,
नेहरू मार्ग, नागपुर - 440 020

लघु कागज उद्योग जिनमें रासायनिक प्रक्रिया द्वारा कागज तैयार किया जाता है, कच्चे माल के रूप में रद्दी कागज का उपयोग अत्यंत लाभकारी है। इससे न केवल जल प्रदूषण बल्कि वायु एवं थल प्रदूषण में भी राहत मिलेगी तथा अन्य संसाधनों की खपत में भी कमी होगी। प्रस्तुत लेख में कुछ लघु इकाइयों पर किये गये अध्ययन से प्राप्त आंकड़ों पर प्रकाश डाला गया है।

भारतीय कागज उद्योग एक ओर पारंपरिक कच्चे माल की सीमित उपलब्धता तो दूसरी ओर अत्यंत प्रदूषणकारी प्रवृत्ति के कारण त्रस्त है। गैर पारंपरिक कच्चे माल जैसे कृषि अवशेष, जूट, कटे बोरे (हैसियन) एवं रद्दी कागज आदि का उपयोग कर पा सकने के कारण विगत दशक में लघु इकाइयों का तेजी से प्रादुर्भाव हुआ है।

कागज बनाने के लिए गैर पारंपरिक कच्चे माल के उपयोग और लुगदी की धुलाई के दौरान प्राप्त काले रंग के द्रव (ब्लैक लिकर) से रसायनों की पुन:प्राप्ति के लिए कोई प्रयास न करने तथा बहि:स्राव के आंशिक या बिल्कुल भी उपचार न करने के कारण लघु इकाइयों में प्रदूषण की समस्या का सामना करना पड़ता है और इन इकाइयों का प्रदूषित जल उपचार किये बिना ही नदी नालों में बहा दिया जाता है।

एक टन कागज बनाने से प्राप्त अपशिष्ट जल में निलंबित ठोस, कुल ठोस. जैव रासायनिक ऑक्सीजन अपेक्षा (बी. ओ. डी.) तथा रासायनिक ऑक्सीजन अपेक्षा (सी. ओ. डी.) की मात्रा क्रमश: लगभग 320, 750, 140 तथा 440 किग्रा होती है। बहि:स्राव विश्लेषण से पता चलता है कि लगभग 90 प्रतिशत प्रदूषण लुगदी विभाग से होता है जिसमें 60-65 प्रतिशत प्रदूषण केवल पोचर वाशर (जहां कृषि अवशेष से तैयार लुगदी धोयी जाती है) के ब्लैक लिकर के कारण होता है।

अत: लघु कागज मिल में विशेषकर लुगदी विभाग से होने वाले प्रदूषण की रोकथाम आवश्यक है जिसके लिए कृषि अवशेष के स्थान पर रद्दी कागज का अधिकाधिक प्रयोग किया जा सकता है, जो तैयार कागज की गुणवत्ता एवं आर्थिकता की कसौटी पर खरा उतरेगा। रद्दी कागज से कागज बनाने में न केवल प्रदूषण की मात्रा कम होगी, अपितु पाचन रसायन, भाप, ऊर्जा/ईंधन तथा स्वच्छ जल की भी सार्थक बचत होगी। साथ ही ठोस अपशिष्ट एवं वायु प्रदूषण में भी काफी कमी होगी। हालांकि यह सब इस बात पर निर्भर करेगा कि कागज बनाने में कितने प्रतिशत रद्दी कागज का प्रयोग किया गया है।

कुल उत्पादन का लगभग 50 प्रतिशत कागज लघु एवं माध्यम श्रेणी की मिलों में तैयार होता है। लघु इकाइयों में मुख्यत: 56 प्रतिशत कृषि अवशेष (गन्ने की खोई, बैगास, गेहूं एवं चावल की फसल के डंठल, सरकंडा आदि) 37 प्रतिशत रद्दी कागज तथा शेष 7 प्रतिशत अन्य पदार्थ जैसे जूट, कटे हुए बोरे (हैसियन) आदि का प्रयोग किया जाता है, जबकि बड़ी इकाइयों में 65 प्रतिशत यूकिल्पिटस, 30 प्रतिशत बांस एवं 5 प्रतिशत अन्य पदार्थों का कच्चे माल के रूप में उपयोग होता है।

तालिका - 1 : रद्दी कागज के स्रोत, प्रकार एवं संबंधित अपशिष्ट अवयव

स्रोत	कागज के प्रकार	अपशिष्ट अवयव
घरेलू अपशिष्ट	अखबार, पत्रिकाएं, किताबें, गत्ता, सामान बांधने के कागज आदि	कांच, कंकड़, प्लास्टिक, पॉलीथीन आदि
औद्योगिक एवं व्यापारिक अपशिष्ट	पत्रिकाएं, रिपोर्ट, नलीदार गत्ता, सामान बांधने का गत्ता, डयूपलैक्स बोर्ड, छपाई कारखाने का रद्दी कागज एवं कागज उद्योग का बेकार कागज आदि	पिन, क्लिप, पॉलीथीन, नायलोन, कंकड़, धातु के टुकड़े, एल्यूमिनियम, मोम, थर्मोकोल आदि
कार्यालयीन अपशिष्ट	फाइलें, रिपोर्ट, कागज, कार्बन कागज, गत्ता आदि	पिन, क्लिप, पॉलीथीन, कंकड़ धातु के टुकड़े आदि
सड़क, कूड़ेदान आदि	उपरोक्त सभी प्रकार के रद्दी कागज एवं बोर्ड	उपरोक्त सभी प्रकार के अवयव

सामान्यतः भारतीय कागज उद्योग, विशेषकर लघु इकाइयां जिनमें मुख्यतः रासायनिक विधि से लुगदी तैयार की जाती है, अत्यंत प्रदूषणकारी हैं। प्रदूषण की दृष्टि से 30 टन प्रतिदिन क्षमता वाली कागज की एक ऐसी मिल, जिसमें रासायनिक पुनःप्राप्ति की सुविधा नहीं है, उस 100 टन प्रतिदिन क्षमता वाली मिल के समान है जिसमें ब्लैक लिकर से रसायनों को पुनःप्राप्त करने का प्रावधान है।

जल-प्रदूषण लघु ही नहीं अपितु बड़ी कागज मिलों के लिए भी एक जटिल समस्या है। भारत में लघु कागज मिलों में जल प्रदूषण नियंत्रण एवं उपचार की व्यवस्था लगभग नहीं के बराबर है। केवल बड़ी व कुछ मध्यम वर्ग की मिलों में ही बहिःस्राव उपचार तथा इससे उपजात के रुप में प्राप्त रसायनों की पुनःप्राप्ति की उचित व्यवस्था है। अन्यथा लघु इकाइयों में प्रदूषित जल-उपचार किये बिना ही नदी नालों में बहा दिया जाता है, या आंशिक उपचार के बाद कृषि कार्यों में उपयोग किया जाता है।

रद्दी कागज से कागज बनाने की प्रक्रिया :

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होने वाले रद्दी कागज में विभिन्न प्रकार के अपशिष्ट अवयव हो सकते हैं (तालिका-1) जिन्हें पृथक करना बहुत जरूरी है। रद्दी कागज से सर्वप्रथम बड़े-बड़े अपशिष्ट पदार्थों के टुकड़े छांट लिये जाते हैं उसके बाद पल्पर में पानी/रसायन (अल्प मात्रा में) मिलाकर कागज की लुगदी बनाई जाती है जहां कागज के रेशे अलग-अलग हो जाते हैं। इसके बाद पृथक अपशिष्ट पदार्थों को जाली द्वारा रोक लिया जाता है और छोटे तथा हल्के पदार्थों को सेंट्रीफ्यूगल क्रिया द्वारा पृथक कर लिया जाता है। लघु कागज मिल, जहां मुख्यतः बांसिया कागज बनाया जाता है, में प्रायः सड़कों से एकत्रित रद्दी कागज का प्रयोग किया जाता है, जो कि सस्ता होने के साथ-साथ सुगमता से उपलब्ध हो जाता है।

रद्दी कागज से यांत्रिक अथवा रासायनिक विधि से लुगदी बनाई जा सकती है। लिखाई एवं छपाई तथा अन्य प्रकार के बढ़िया कागज बनाने के लिए रद्दी कागज से स्याही को निकालना आवश्यक हो जाता है जो प्रक्रिया न केवल मंहगी पड़ती है अपितु जल प्रदूषण की मात्रा भी बढ़ाती है। अतः ऐसी लघु कागज मिलों में प्रायः कम अच्छी गुणवत्ता का ही कागज बनाया जाता है। रद्दी कागज लुगदी तैयार हो जाने पर आवश्यक रसायन मिलाकर सामान्य प्रक्रिया द्वारा इच्छानुसार कागज तैयार किया जाता है।

तालिका - 2 : बहि:स्राव अभिलक्षण : लघु एवं मध्यम श्रेणी कागज उद्योग

प्राचल	कृषि अवशेष	कृषि अवशेष व क्रय लुगदी	रद्दी कागज लुगदी व क्रय लुगदी	वर्तमान अध्ययन
आयतन				
घनमीटर/टन	252	170	107	148
पी. एच.	6-8.5	6-8.6	7-7.7	6-8.5
कुल निलंबित ठोस				
मिग्रा./ली.	615	585	542	2142
किग्रा/टन	135	100	58	317
जैव रासायनिक ऑक्सीजन अपेक्षा				
मिग्रा./ली.	698	520	187	966
किग्रा/टन	176	88	20	143
रासायनिक ऑक्सीजन अपेक्षा				
मिग्रा/ली.	2940	1650	654	2990
किग्रा/टन	741	280	70	441

रद्दी कागज का उपयोग और पर्यावरण पर प्रभाव :

कृषि अवशेष, क्रय लुगदी (परचेज्ड पल्प) एवं रद्दी कागज पर आधारित लघु एवं मध्यम श्रेणी कागज मिलों से उत्सर्जित बहि:स्राव अभिलक्षण तालिका-2 में प्रस्तुत किये गये हैं। साथ ही तुलना के लिए वर्तमान अध्ययन के परिणाम भी दर्शाये गये हैं। विभिन्न अनुपातों में कृषि अवशेष एवं रद्दी कागज लुगदी को मिलाने पर प्राप्त लुगदी से कागज बनाने की प्रक्रिया में उत्सर्जित बहि:स्राव अभिलक्षण तालिका-3 में दिये गये हैं। उपरोक्त तालिका के प्राचलों को देखने से स्पष्ट होता है कि तैयार कागज में जैसे-जैसे रद्दी कागज लुगदी का अनुपात बढ़ाया जाता है वैसे-वैसे जल प्रदूषण की मात्रा कम होती जाती है। इस प्रभाव को चित्र-1 के द्वारा भी स्पष्ट किया गया है। वर्तमान अध्ययन में कुल निलंबित ठोस की मात्रा काफी अधिक है जो कि लुगदी को भली प्रकार न धोने व छानने के कारण है। अन्यथा प्रति टन बी.ओ.डी. एवं सी.ओ.डी. की मात्रा केवल कृषि अवशेष प्रयोग करने वाले उद्योगों से लगभग 40 प्रतिशत कम है।

अन्य गैर पारंपरिक कच्चे माल (कृषि अवशेष, जूट, हैसियन आदि) के साथ रद्दी कागज से कागज बनाने में न केवल प्रदूषण की मात्रा कम होती है अपितु पाचन रसायन, भाप, ऊर्जा, ईंधन तथा स्वच्छ जल की भी सार्थक बचत होती है। इन सब संसाधनों में कितनी बचत होगी इसके लिए कुछ लघु कागज इकाइयों से आंकड़े एकत्रित किये गये हैं। उनमें से कृषि अवशेष (50 प्रतिशत), हैसियन (35 प्रतिशत) एवं कागज (15 प्रतिशत) का प्रयोग करने वाली कुछ इकाइयों का चयन किया गया है, जो इनसे प्रतिदिन 15-18 टन तक बांसिया तथा अन्य कम अच्छी गुणवत्ता का कागज बनाती हैं। मिल में कृषि अवशेष तथा हैसियन को क्रमशः 12 व 4 प्रतिशत रसायन के साथ गला कर क्रमशः लगभग 45 प्रतिशत एवं 75 प्रतिशत लुगदी प्राप्त की जाती है। विभिन्न स्रोतों से एकत्रित रद्दी कागज से बिना रसायन के पल्पर द्वारा लुगदी प्राप्त की जाती है। यहां माना गया है कि एक टन

चित्र-1 रद्दी कागज के अनुपात का प्रदूषण पर प्रभाव

चित्र-2 कागज में रद्दी कागज की प्रतिशत मात्रा का पर्यावरण व अन्य संसाधनों पर प्रभाव

तालिका- 3: बहि:स्राव अभिलक्षण : कृषि अवशेष एवं रद्दी कागज पर आधारित कागज उद्योग

प्राचल	कृषि अवशेष : रद्दी कागज					
	1 : 0	3 : 1	2 : 1	1 : 1	1 : 2	1 : 3
आयतन						
घनमीटर/टन	252	216	204	180	155	143
पी. एच.			6-8.5			
कुल निलंबित ठोस						
मिग्रा./ली.	615	606	603	592	581	573
किग्रा/टन	155	131	123	107	90	82
जैव रासायनिक ऑक्सीजन अपेक्षा						
मिग्रा./ली.	698	634	608	544	465	413
किग्रा/टन	176	137	124	98	72	59
रासायनिक ऑक्सीजन अपेक्षा						
मिग्रा/ली.	2940	2653	2534	2256	1897	1664
किग्रा/टन	741	573	517	406	294	238

आर्द्रता रहित लुगदी से एक टन कागज निर्मित होता है। वस्तुत: पेपर मशीन प्रक्रिया के दौरान रेशों की जो हानि होती है, वह लुगदी घोल तैयार करते समय डाले गये अन्य रसायनों (एलम, स्टार्च, रोसिन आदि) द्वारा संतुलित हो जाती है। विस्तृत गणना से प्राप्त परिणामों को तालिका-4 में दिया गया है। साथ ही इन गणनाओं के आधार पर ग्राफ (चित्र-2) भी बनाये गये हैं जिनसे हम यह तुरंत ज्ञात कर सकते हैं कि अमुक प्रतिशत रद्दी कागज के उपयोग करने से विभिन्न संसाधनों एवं प्रदूषण की मात्रा में कितनी कमी होगी।

उपरोक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इन लघु कागज मिलों में 15 प्रतिशत के स्थान पर यदि 40 प्रतिशत रद्दी कागज का प्रयोग किया जाये तो रेशेदार कच्चे माल व रसायन में 25-25 प्रतिशत की कमी होगी जबकि ईंधन में 15 प्रतिशत तथा ठोस अपशिष्ट एवं जल प्रदूषण की मात्रा में क्रमश: 16 तथा 20 प्रतिशत की कमी होगी। रद्दी कागज का अधिक उपयोग करने से थोड़ा बहुत अतिरिक्त आर्थिक भार वहन करना पड़ सकता है जो पर्यावरण एवं सामाजिक हितों को ध्यान में रखते हुए सहर्ष वहन किया जा सकता है । किंतु यह सब रद्दी कागज एवं तैयार किये गये कागज की गुणवत्ता पर निर्भर करेगा।

रद्दी कागज उपयोग का तैयार कागज की गुणवत्ता पर प्रभाव :

ऐसा माना जाता है कि तैयार कागज में अधिकाधिक लगभग 50 प्रतिशत रद्दी कागज का प्रयोग किया जा सकता है। बार-बार रद्दी कागज का प्रयोग होने से यद्यपि उसके रेशों की लंबाई, सामर्थ्य एवं बंधन शक्ति कम हो जाती है, तथापि रद्दी कागज लुगदी को अन्य लंबे रेशों के साथ उचित अनुपात में मिलाकर बढ़िया से बढ़िया कागज बनाया जा सकता है । जिसके लिए विभिन्न प्रयोगशालाओं में अध्ययन जारी है।

तालिका - 4 : विभिन्न संसाधनों एवं प्रदूषण में प्रतिशत कमी

प्राचल	कृषि अवशेष व रद्दी कागज का अनुपात						
	100:0	75:25	60:40	50:50	40:60	25:75	0:100
रेशेदार कच्चा माल	0	25	40	50	60	75	100
रसायन	0	25	40	50	60	75	100
भाप/ईंधन	0	15	24	30	36	45	60
ठोस अपशिष्ट	0	16	26	32	39	48	64
जल प्रदूषण	0	20	32	40	48	60	80

रद्दी कागज के उपयोग की सीमाएं :

रद्दी कागज से किसी भी प्रकार का बढ़िया से बढ़िया कागज बनाया जा सकता है किंतु इसके अधिकाधिक प्रयोग में निम्न प्रकार की समस्याएं आ सकती हैं जो रद्दी कागज के अधिकाधिक उपयोग को सीमित करती हैं ।

रद्दी कागज के बार बार पुन: प्रयोग होने से उसके रेशों की लंबाई कम हो जाती है अर्थात् रेशे बारीक हो जाते हैं जिससे कागज बनाने की प्रक्रिया में जल निष्कासन की समस्या पैदा हो जाती है तथा बारीक रेशे पेपर मशीन की तारों में फंसकर पानी का निकलना कम कर देते हैं । पर्याप्त पानी न निकल पाने के कारण रेशे परस्पर बंध नहीं पाते और कागज की सतह नहीं बन पाती जिससे पेपर मशीन से प्रैस रोल पर नम कागज स्थानांतरित करने पर वह बार-बार टूटता है । इससे न केवल उत्पादन की हानि होती है वरन् ऊर्जा का भी व्यर्थ अपव्यय होता है ।

बार-बार रद्दी कागज का प्रयोग होने से उसके रेशे कठोर हो जाते हैं जो आपस में भली प्रकार बंध नहीं पाते जिसके परिणामस्वरूप कागज रोयेंदार हो जाता है । पेपर मशीन में भीगे रेशों से पर्याप्त पानी न निकल पाने के कारण प्रैस विभाग में अधिक जोर से कागज की सतह को दबाना पड़ता है जिससे तैयार कागज में टूट न सी पैदा हो जाती है । पेपर मशीन की पूरी चौड़ाई पर नम कागज में एक समान आर्द्रता न होने से कागज सूखने पर मुड़ने लगता है ।

रासायनिक पद्धति से तैयार लुगदी में एक सीमा से अधिक रद्दी कागज की लुगदी मिलाने से तैयार कागज की संरचनात्मक एवं प्रकाशीय गुणों पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है ।

एक समान गुणवत्ता के रद्दी कागज की उपलब्धता मुश्किल है । साथ ही उसमें विभिन्न प्रकार के पदार्थ जैसे मोम, धूलकण, पिन, क्लिप, एल्यूमिनियम एवं लोहे आदि के टुकड़े हो सकते हैं जिन्हें सर्वप्रथम छांटना आवश्यक हो जाता है अन्यथा बाकी की प्रक्रियाओं में कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है ।

कागज बनाने की प्रक्रिया में उपरोक्त समस्याएं रद्दी कागज का अधिकाधिक प्रयोग सीमित करती हैं । साथ ही उचित मूल्यों पर एक समान गुणवत्ता वाले रद्दी कागज की सुगमता उपलब्धता इसके प्रयोग को विचारणीय बना देती है तथापि प्रकृति एवं पर्यावरणीय संतुलन के महत्व को ध्यान में रखते हुए यह नितांत आवश्यक हो जाता है कि कागज उद्योग में रद्दी कागज का अधिकाधिक संभव उपयोग किया जाये ।

❑❑❑

पश्चिमी राजस्थान में प्रदूषण की समस्याएं*

डॉ. डी. डी. ओझा, डॉ. एस. एन. जौहरी एवं एस. गर्ग,
मिट्टी परीक्षण प्रयोगशाला, जोधपुर

"यावद भूमण्डलम् धर्ते सशैलम् वनकाननम् । तावत् तिष्ठति वे दिन्याम् संतति पुत्र पौत्रिकी" अर्थात् जब तक पृथ्वी हरे पेड़-पौधों, पहाड़ों तथा वनों आदि से भरी रहेगी तब तक वह मानव की संतानों की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करती रहेगी । वह हमारा तब तक पालन पोषण करती रहेगी जब तक कि वह वनाच्छादित है । पश्चिमी राजस्थान में भी देश के अन्य भागों की तरह औद्योगिकीकरण की होड़ लगी है । फलस्वरूप प्रदूषण का साया मंडराने लगा है । इससे निपटने के लिए वनारोपण एक कारगर तरीका है । प्रस्तुत लेख में पश्चिमी राजस्थान में बढ़ रहे प्रदूषण की एक झलक आंकड़ों सहित वर्णित है ।

रेगिस्तान के नाम से अत्यधिक परिचित राजस्थान का पश्चिमी भाग अपनी प्राकृतिक तथा भौगोलिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है । इस मरुस्थल में कई ऐसे स्थान हैं जहां पानी के लिए बहुत दूर जाना पड़ता है तो कहीं पर पथरीले क्षेत्रों से कृषि भी नहीं हो पाती है । जैसा कि विदित है यहां के पारिस्थितिक तंत्र को प्रभावित करने में कम एवं अनियमित वर्षा तथा तापमान में विविधता का महत्वपूर्ण योगदान है । इसके कारण यहां पर उगने वाली वनस्पतियां तथा जन जीवन प्रतिकूल रूप से प्रभावित हो रहा है ।

राजस्थान के भौगोलिक एवं पारिस्थितिक क्षेत्र में अरावली पर्वत श्रृंखलाओं का भी विशिष्ट योगदान है । जनसंख्या के अत्यधिक दबाव के कारण ये पर्वत मालाएं नग्न तथा वनों से अनाच्छादित हो रही हैं । अरावली पर्वतों पर से हरे पौधों के आवरण में कमी होने से इस क्षेत्र में वर्षा तथा जलावन लकड़ी की समस्या भी विकट रूप धारण कर चुकी है ।

जनसंख्या वृद्धि के कारण उसके पोषण के लिए खाद्यान्न तथा ऊर्जा की मांग भी निरंतर बढ़ती जा रही है एवं इनकी पूर्ति के लिए अधिक सिंचाई, अधिक उपज देने वाले बीजों, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशी दवाओं, ऊर्जायुक्त पानी के पंप सेटों, ट्रेक्टर तथा अन्य कृषि आदानों का उपयोग करना नितांत आवश्यक हो जाता है, जो कि पारिस्थितिक तंत्र को निःसंदेह प्रभावित करते हैं ।

पश्चिमी राजस्थान के पर्यावरण को प्रदूषित करने में बढ़ रहे औद्योगिक प्रतिष्ठानों की भी महती भूमिका है । यहां पर पश्चिमी राजस्थान में सीमेंट, अभियांत्रिकी उद्योग, रंगाई-छपाई, वस्त्र उद्योग, खनिज उद्योग तथा खनिज दोहन तथा स्टील उत्पादित उद्योगों के कारण मृदा, जल, वायु तथा ध्वनि प्रदूषण की समस्या भी निरंतर बढ़ती जा रही है । मिलों की चिमनियों तथा ऊर्जा घरों से निकले धुएं में कार्बन डाईआक्साइड, कार्बनमोनोक्साइड, सल्फर डाईआक्साइड, धूल तथा नाइट्रोजन के विभिन्न ऑक्साइड होते हैं जो कि वायु को प्रदूषित करते हैं ।

यहां रंगाई-छपाई की लगभग एक हजार से अधिक इकाइयां हैं जो कि जोधपुर, पाली तथा बालोतरा क्षेत्रों में स्थापित हैं । इन उद्योगों में प्रयुक्त विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं में सोडियम कार्बोनेट, सोडियम हाइड्रोक्साइड, सोडियम क्लोराइड, सोडियम परॉक्साइड, सोडियम सल्फाइड, सोडियम नाइट्राइट, सोडियम सिलिकेट, सोडियम ऑक्सीक्लोराइड, गंधक का अम्ल, ब्लीचिंग

**20-21 अप्रैल 1995 के दौरान 'ऊर्जा एवं पर्यावरण' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत वार्ता.*

पाउडर, हाइड्रोडन परॉक्साइड, ऐसिटिक अम्ल, टेनिक अम्ल, अपमार्जक, एन्जाइम तथा गोंद आदि प्रयुक्त किये जाते हैं जो इन उद्योगों से विषैले रसायन स्रावित करने में सहायक होते हैं। इससे घुलनशील ऑक्सीजन में कमी आ जाती है। स्रावित जल में व्याप्त विषैले रसायन मिट्टी के छिद्रों को बंद करते हैं जिनसे उनकी पारगम्यता कम हो जाती है। इन उद्योगों से निकला रंगीन जल बंजर भूमि, कृषियुक्त भूमि तथा भू-जल के अवभृतों को भी प्रभावित कर रहा है। पश्चिमी राजस्थान में कुछ हद तक इन उद्योगों को प्राकृतिक सहयोग यथा – शुष्क जलवायु, कम वर्षा, कम आर्द्रता, उच्चतापक्रम, अत्यधिक सूर्य की रोशनी तथा सोडियम की जल में अधिकता भी प्राप्त होती है जो कि रंगाई-छपाई में उपयोगी होती है।

पश्चिमी राजस्थान के विभिन्न जिलों में स्थापित पॉवर लूम इकाइयों का विवरण तालिका -1 में दिया गया है। इस क्षेत्र में विद्यमान तीनों वर्षाकालीन नदियां जोजरी, लूनी तथा बांडी भी इन औद्योगिक बहिस्रावों से प्रभावित हो चुकी हैं। बाड़मेर जिले के बालोतरा क्षेत्र में लगभग 300 इकाइयों से करीब 5 लाख लीटर पदार्थ स्रावित होते हैं जिसमें 45-50 टन विषैले रसायन होते हैं। इसी प्रकार बांडी नदी में भी पाली की वस्त्र छपाई इकाइयों से प्रतिदिन 10 लाख लीटर पानी जिसमें 90 टन क्षार, अम्ल तथा रंजक होते हैं, प्रवाहित होते हैं। जोजरी नदी में भी करीब 7 लाख लीटर औद्योगिक बहिस्राव जिसमें 6 टन रंग, क्षार, अम्ल तथा अपमार्जक घुले रहते हैं, बासनी से सालावास की ओर बहते हैं। इस कारण बहुत से कुएं जो ढलान के क्षेत्र में स्थित हैं, उनका जल प्रदूषित हो चुका है।

अनुसंधान परिणाम दर्शाते हैं कि कई स्थानों पर यह जल अत्यधिक क्षारीयता के कारण सिंचाई हेतु अनुपयुक्त हो चुका है। तथा 40 प्रतिशत लगभग कृषि उत्पादन इन क्षेत्रों में क्षीण हो चुका है। पश्चिमी राजस्थान की नदियों पर होने वाले रासायनिक पदार्थों के भार को तालिका-2 में दर्शाया गया है।

मरु क्षेत्रों में प्रदूषित जल के पीने से मनुष्यों तथा पशुओं में विविध प्रकार की शारीरिक विकृतियां (जोड़ों में दर्द, गर्भपात, जठर एवं चर्म रोग) भी देखी जा चुकी हैं।

तालिका-1 :

पश्चिमी राजस्थान में जिले वार पॉवर लूम इकाइयां

जिला	इकाइयों की संख्या	पॉवर लूमों की संख्या
बाड़मेर	53	670
जैसलमेर	--	--
जालोर	4	24
जोधपुर	108	768
नागौर	--	--
पाली	220	1654

मरुस्थलीय क्षेत्रों में मल-जल निकास की समुचित व्यवस्था न होने तथा स्वास्थ्य शिक्षा के अभाव में भी जल स्रोत प्रदूषित होते हैं तथा कई जानलेवा रोग (हैजा, पीलिया, मोतीझरा आदि) उत्पन्न करते हैं। इतना ही नहीं आजकल कृषि में डी. डी. टी., एल्ड्रिन, बी. एच. सी., मेलाथिमान, पेराथियान तथा अन्य आर्गेनोफास्फोरिक कीटनाशक औषधियों का अत्यधिक उपयोग भी प्रदूषण का प्रभावी कारक हैं। पेड़-पौधों पर लगी ये दवाएं बिना सही सफाई के साथ ग्रहण करने पर कई बीमारियां उत्पन्न कर देती हैं। कीटनाशक दवाओं के पानी में घुलकर जल स्रोतों में एकत्रित होने से भी कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जोधपुर क्षेत्र में औद्योगिक बहुस्राव का रासायनिक संघटन तालिका-3 में वर्णित किया गया है।

पश्चिमी राजस्थान के भू जल में नाइट्रेट की अधिकता भी प्रदूषण का प्रभावी कारक है। कई कारणों से उसमें नत्रजनीय उर्वरकों का एकल प्रयोग भी है, जिनके निक्षालन से भू जल में नाइट्रेट की मात्रा में बढ़ोतरी हो चुकी है जिससे मनुष्य तथा मवेशियों में कई भयंकर रोग उत्पन्न हो चुके हैं। मरु प्रदेश के नागौर जिले के भू-जल में फ्लोराइड की अधिकता होने से फ्लोरोसिस (दंत एवं अस्थि) की बीमारी भी गंभीर रुप से फैल चुकी है।

तालिका-2 : पश्चिमी राजस्थान की नदियों पर रासायनिक पदार्थों का भार (टन में)

रसायन	जोजरी नदी	बांडी नदी	लूनी नदी	कुलमात्रा
कास्टिक (100%) (ठोस व द्रव)	7,000	10,800	7,500	25,300
नमक का अम्ल	5,000	8,000	4,500	17,500
गंधक का अम्ल	4,600	8,200	3,900	16,700
सोडियम सिलिकेट	1,000	1,800	1,200	4,000
रंग	240	720	250	1,210
अन्य	7,300	4,000	1,000	12,700
योग	25,140	33,520	18,350	77,410

मरु प्रदेश में भी विगत दशकों से हुई जनसंख्या वृद्धि के कारण ग्रामीण क्षेत्रों से लोगों का पलायन शहरों की ओर हुआ है।

जलावन लकड़ी की समस्या भी विकट रुप धारण कर चुकी है तथा झाड़ियों का उन्मूलन होता जा रहा है जिससे मरुस्थलीकरण भी निरंतर वृद्धि की ओर है। यदि हम इन क्षेत्रों के भौगोलिक क्षेत्र का वनाच्छादित क्षेत्र देखें तो अत्यल्प क्षेत्र ही आता है जो कि चिंतनीय विषय है (तालिका - 4)।

पश्चिमी राजस्थान सहित मरुस्थलीय भू-भाग में कुल मवेशियों की जनसंख्या 40.86 लाख है तथा विगत 10 वर्षों में इसमें अत्यधिक वृद्धि होने से चारे की समस्या में भी वृद्धि हो रही है तथा अत्यधिक चराई करवाने से वन भूमि भी क्षीण हो चुकी है तथा मृदा अपरदन अधिक होने से मृदा उर्वरता भी घट चुकी है क्योंकि हवा तथा जल द्वारा सतही भूमि का अपरदन होता रहता है।

जोधपुर क्षेत्र में स्टील रोलिंग की भी काफी इकाइयां हैं जिनसे भी अम्ल, करोसिव तथा विषैले पदार्थ स्रावित होते हैं। ये पदार्थ जल में ऑक्सीजन की मात्रा को कम करते हैं, फलतः पौधों पर प्रतिकूल प्रभाव डालकर कृषि उत्पादन को कम करते हैं। मरुस्थलीय क्षेत्र अनेकों खनिज पदार्थों-जिंक, कॉपर, जिप्सम, बेन्टोनाइ, एस्बेस्टस, लाइमस्टोन, लिग्नाइट, मार्बल, फेल्सपार ग्रेनाइट, फास्फोराइट तथा मृदा स्टोन का भंडारगृह भी है। विगत 25 वर्षों से खनिज दोहन कार्य में अत्यधिक वृद्धि होने से वायु, जल, भू निम्नीकरण तथा ध्वनि प्रदूषण की समस्याएं बढ़ी हैं।

पश्चिमी राजस्थान के मकराना, नागौर, जालोर, सिरोही व जैसलमेर आदि क्षेत्रों में मार्बल की खदानों से व पत्थर चीरने की मशीनों से उत्पन्न ध्वनि प्रदूषण, उसकी घिसाई से निकलने वाले बारीक मैले से वायु तथा जल इतना प्रदूषित हो रहा है कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। पत्थर की कटाई से उड़नेवाला पाउडर पेड़-पौधों की पत्तियों पर इस प्रकार जमा हो रहा है मानो वृक्ष हरे रंग के न होकर सफेद रंग के हो गये हैं। अतः वृक्षावली के इस प्रकार नष्ट होने से पर्यावरण धीरे-धीरे असंतुलन

तालिका-3 : जोधपुर क्षेत्र में औद्यौगिक बहिस्राव का रासायनिक संघठन

संघटक	परास
पी. एच (pH)	9.0 - 11.1
ई. सी. (dsm^{-1})	4.4 - 10.8
आर. एस. सी. / मिली तुल्यांक/लीटर)	11.5 - 90.1
एस. ए. आर.	60 - 176
कुल क्षारीयता (पी. पी. एम.)	710 -1760
सी. ओ. डी.	155 - 800
सोडियम	630 - 3421
पोटेशियम	14.2 - 80.9
कैल्शियम	ट्रेस (सूक्ष्म)
मैगनीशियम	सूक्ष्म - 16.8
कॉपर	0.071 - .748
जिंक	0.11 - .537
आयरन	सूक्ष्म - 0.67
मैंगनीज	सूक्ष्म
सीसा	सूक्ष्म - 0.134
कैडमियम	सूक्ष्म
कोबाल्ट	सूक्ष्म
कार्बोनेट	30-1050
बाई कॉर्बोनेट	640 - 3446
क्लोराइड	270 - 1050
फॉस्फेट	0.5 - 5.1
सल्फेट	100 - 320

नोट : सभी तत्वों/अणुओं का परास पी. पी. एम. में दिया गया है

की ओर बढ़ रहा है. मार्बल उद्योगों से निकलने वाले पत्थर के बूरे से मिट्टी ती उर्वरता शक्ति कम हो जाती है। इन मशीनों की आवाज से ध्वनि प्रदूषण भी इतना व्यापक हो रहा है कि श्रमिकों को कान की बीमारियाँ हो चुकी हैं । अकेले जोधपुर शहर में लगभग 50,000 दुपहिया वाहन, 3000 ट्रक, 1500 आटोरिक्शा, 700 टैक्सी, 400 टेम्पों, 300 बसें तथा 100 से अधिक शहरीय बसों की संख्या है । ये सभी अत्यधिक मात्रा में वायु तथा ध्वनि प्रदूषण उत्पन्न करते हैं । ध्वनि प्रदूषण के दुष्प्रभाव भी अन्य प्रदूषणों से कम नहीं हैं तथा चिरकालीन होते हैं ।

तालिका-4 :
पश्चिमी राजस्थान में जिलेवार वनाच्छादन

जिला	भौगोलिक क्षेत्र	भौगोलिक क्षेत्र में वनों का प्रतिशत
बाड़मेर	28,387	0.13
जैसलमेर	38,401	0.16
जालोर	10,640	1.16
जोधपुर	22,850	0.28
नागौर	17,718	0.16
पाली	12,387	4.59

प्रदूषण की समस्या का निपटान :

पर्यावरण संरक्षण में हमें प्रकृति के साथ सामंजस्य बैठाना होगा तथा आधुनिकता की होड़ को त्यागकर प्राकृतिक संसाधनों का समुचित संरक्षण एवं उपयोग रना होगा । पश्चिमी राजस्थान के भोले-भाले ग्रामीणों को स्वस्थ एवं स्वच्छ जीवन के बारे में, कम जानकारी है । इस अज्ञानता तथा गंदे एवं दूषित जल, खानों में कार्यरत श्रमिकों को दूषित वायु तथा तीव्र ध्वनि युक्त कार्यों में कार्यरत लोगों को पेचिस, हैजा, पीलिया, पोलियो, दमा, तपेदिक, बहरापन, तीव्र रक्तचाप आदि रोग हो जाते हैं । आवश्यकता इन लोगों को समझाने की तथा पर्यावरण शिक्षा के व्यापक प्रचार-प्रसार करने की है । मरुक्षेत्रों में विभिन्न औद्योगिक क्रिया-कलापों से हो रहे पर्यावरण प्रदूषण विभिन्न औद्योगिक क्रिया-कलापों से हो रहे पर्यावरण प्रदूषण को तालिका-5 में दर्शाया गया है ।

तालिका-5

मरु क्षेत्रों में विभिन्न औद्योगिक क्रिया-कलापों से पर्यावरणीय प्रदूषण

उद्योग	प्रयुक्त कच्चा पदार्थ	प्रदूषण का प्रकार	प्रदूषण का स्रोत
वस्त्र	ऊन, कपास, रसायन	वायु तथा जल प्रदूषण	सल्फर डाईआक्साइड, हाइड्रोकार्बन, दुर्गंध विलगित ठोस
शक्कर	गन्ना परिशोधन में प्रयुक्त रसायन	वायु तथा जल प्रदूषण	दुर्गंध, कार्बनिक विलयन परिष्कृत हेतु
वनस्पति तथा तेल	तेल उत्पादक फसलों के बीज	वायु तथा जल प्रदूषण	गंध, कार्बनिक विलयन परिष्कृत हेतु
रसायन	अकार्बनिक/कार्बनिक पदार्थ	वायु तथा जल प्रदूषण	बैंजीन, टोल्यूवीन, भारी धातुएं
सिरेमिक्स	अकार्बनिक खनिज	वायु तथा जल प्रदूषण	रसायन
सीमेन्ट संयंत्र	लाइमस्टोन, क्ले	वायु, ध्वनि, मृदा एवं जल	आग, धूल, धुआं (विभिन्न प्रक्रियाएं)
लाइमस्टोन	लाइमस्टोन	वायु एवं निर्वनीकरण	ब्लास्टिंग तथा खनिज दोहन
मार्बलकटिंग एवं पॉलिशिंग	मार्बल	धूल (वायु), ध्वनिप्रदूषण एवं वनोन्मूलन	ब्लास्टिंग तथा ड्रिलिंग में धूल
सोप स्टोन ग्राइन्डिग	सोपस्टोन	वायु एवं ध्वनि	क्रशर एवं ग्राइंडर का उपयोग
निर्माण पदार्थ	इमारती पत्थर	वायु एवं वनोन्मूलन	दोहन
रॉक फॉस्फेट	रॉक	वायु, ध्वनि एवं जल	ब्लास्टिंग, विलेयफास्फेट
धातु प्रोसेसिंग	कॉपर खनिज	वायु एवं जल	स्मेलटिंग, ड्रेसिंग एवं व्यर्थ पदार्थ

पर्यावरण सुधार की नैतिक चेतना के लिए सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाएं भी प्रयासरत हैं। आज पर्यावरण विषयक शिक्षा की जानकारी प्राथमिक से विश्वविद्यालय स्तर तक दी जाने लगी है। प्राकृतिक संतुलन बना रहे, जीवधारियों की रक्षा की जा सके तथा पर्यावरण जनित प्रदूषण से जीवधारियों को बचाया जा सके। इसके लिए वनों का संरक्षण आवश्यक है। वनों के अभाव से हमें कई कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। आज स्थिति यह है कि हमें प्रतिवर्ष लगभग 5 करोड़ रुपये लागत के वन उत्पादन बाहर से मंगवाने पड़ते हैं, वनों के कटान से सूखा पड़ता है तथा भू-क्षरण होता है। वन रेगिस्तान के फैलाव को रोकते हैं। अतः बेकार पड़ी भूमि पर भी वृक्षारोपण किया जाना चाहिए। पर्यावरण के संतुलन तथा प्रदूषण को रोकने में वृक्ष सर्वाधिक सहायक हैं।

❐❐❐

मिट्टी के घर

बालकृष्ण काबरा "एतेश"

प्लाट नं. 11, सूर्या एपार्टमेंट, रिंग रोड,
राणा प्रताप नगर, नागपुर (महाराष्ट्र) 440 022.

मिट्टी के घरों में रहना कितना सुखदायी हो सकता है, हमें अपनी पुरानी सभ्यता की ओर खींच ले जाता है। माटी के घरौंदों की परंपरा भविष्य में विश्व की आवास समस्या का एक शानदार हल साबित होगी। मिट्टी के मकान केवल अतीत की वस्तु न रह कर अवश्य ही आने वाले कल की पहचान होंगे।

कच्ची मिट्टी से बने घरों में रहने की परंपरा हजारों साल पुरानी है। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में या शहर के झोपड़-पट्टी वाले इलाकों में जाकर देखें तो हमें मिट्टी के घर दिखाई देते हैं। किंतु मनुष्य की यह इच्छा रही है कि आधुनिकतम सुविधायुक्त व आधुनिकतम सामग्री से निर्मित मकानों में रहे। औद्योगिक क्रांति के बाद तो शहर निर्माताओं, इंजीनियरों और खोजकर्त्ताओं ने मकानों का रुप ही बदल दिया। इस विकास के दौर में कच्ची मिट्टी की उपयोगिता से मानो हमारा ध्यान ही हट गया। आज कच्ची मिट्टी की खूबियों को फिर से पहचाना जा रहा है और सस्ते व अच्छे मकानों के लिए यह एक वरदान सिद्ध हो सकती है।

पेरु के ऐतिहासिक स्मारक

दक्षिण अमरीका के लीमा स्थित कैथौलिक यूनिवर्सिटी पेरु में इस दिशा में खोजबीन की गयी है। इससे मिट्टी के मकानों के संबंध में विशेष जानकारियां प्राप्त हुई हैं। प्राचीन पेरु में कच्ची मिट्टी का भवन-सामग्री के रुप में प्रयोग करना एक आम बात थी। लकड़ी के सांचों में ढालकर कच्ची मिट्टी की ईंटें बनायी जाती थीं, जिन्हें धूप में सुखाया जाता था। इन ईंटों को अडोबी कहा जाता था। इसी प्रकार दो समानांतर फ्रेमों के बीच कच्ची मिट्टी थापकर पतली मेसनरी दीवार बनायी जाती थी, जिसे टापिया कहा जाता था। पेरु की ऐतिहासिक इमारतों, पिरामिडों, दीवारों और मकानों के लिए अडोबी और टापिया का प्रयोग मुख्य रुप से किया जाता था। उत्तरी पेरु के ट्रूजिलो नामक स्थान से 15 किमी. दूर चान-चान में आज भी एक बड़े शहर के खंडहर मौजूद हैं। ये कीमू शासकों के राज्यकाल (12वीं से 15 वीं सदी) में अडोबी ईंटों से बनाये गये थे। वहां दीवारों युक्त नौ कंपाउंड थे। प्रत्येक कंपाउंड नौ मीटर ऊंची अडोबी दीवारों से घिरा हुआ था। इनमें से कई दीवारें आज 800 वर्षों के बाद भी, अनेक बाढ़ों, भूकंपों और युद्धों के बावजूद भी अच्छी स्थिति में हैं। कई दीवारें अभेध्य मिट्टी के पलस्तर से सुरक्षित हैं, जिनमें मछलियों, समुद्री ऊदबिलावों, पक्षियों, मानवी आकृतियों और ज्यामितीय अंकों के चित्र तराशे हुए दीख पड़ते हैं।

पेरु में ही (इन्का शासक के दैरान) रैकी में निर्मित विराकोचा मंदिर भी कच्ची मिट्टी से निर्मित संरचना का एक बढ़िया उदाहरण है। इस मंदिर की दीवारें 600 वर्ष पुरानी हैं तथा ये 14 मीटर ऊंची, 80 मीटर लंबी और आधार पर 1.5 मीटर चौड़ी हैं। रैकी में प्रति वर्ष औसत वर्षा 60 से.मी. होती है। इतनी वर्षा तथा दो भयानक भूकंपों को सहन करने के बाद भी यह मंदिर सुरक्षित है। पेरु की इन सुंदर संरचनाओं के अतिरिक्त समूचे विश्व में कच्ची मिट्टी से बनी इमारतों के उदाहरण मिलते हैं, जिनका विस्तृत विवरण जीन डेथियर ने अपनी पुस्तक "डाउन टू अर्थ – अडोबी आर्किटेक्चर : एन ओल्ड आइडिया, ए न्यू फ्यूचर" में किया है। ये उदाहरण इस बात के ज्वलंत प्रमाण हैं कि सुंदर और टिकाऊ इमारतों के निर्माण में कच्ची मिट्टी का मुख्य सामग्री के रुप में प्रयोग आसानी से किया जा सकता है और इसमें कोई भी कभी मालूम नहीं पड़ती।

आखिर गलती कहां हुई ?

एक ओर जहां आज भी सुरक्षित मिट्टी की सैकड़ों वर्ष पुरानी संरचनाएं मौजूद हैं, वहीं दूसरी ओर हम देखते हैं कि वर्तमान में निर्मित मिट्टी के घर भारी वर्षा या भूकंप से आसानी से नष्ट हो जाते हैं। यहां तक कि पिछले 30 से 45 वर्षों में अडोबी-संरचनाओं को नुकसान पहुंचने की खबरें भी चीन, कोलंबिया, ईरान, भारत और मेक्सिको से प्राप्त हुई हैं। आखिर ऐसा क्या हुआ कि अडोबी-संरचनाओं को क्षति पहुंची। दरअसल अडोबी से बने मकानों को निम्नलिखित तीन प्रकार से हानि पहुंचती है।

(अ) बाढ़ का पानी जो इमारत की नींव को अपक्षरित करता है। (ब) भारी वर्षा से नुकसान – विशेषत: जब अडोबी-दीवारों में अभेद्य पलस्तर न हों और ये बाहर की ओर निकली छतों से सुरक्षित न हों। इससे दीवार अपक्षरित होती है और इसकी मोटाई और शक्ति का ह्रास होता है। (स) भूकंप से हानि – विशेषत: जब संरचनात्मक घटक ठीक ढंग से जुड़े हुए न हों।

वर्तमान में अडोबी से बने मकानों का सर्वेक्षण करने से पता चला है कि उपर्युक्त समस्याओं की ओर कदाचित ही ध्यान दिया जाता है। इसके अलावा अपर्याप्त नींव और दोषपूर्ण जल-निकास तंत्र के कारण भी नींवों का अपक्षरण होता रहता है। हाल ही में लीमा, पेरु में निर्मित अडोबी भवनों में अनेक बारीक दरारें देखने को मिली हैं। दरअसल, मिट्टी का गारा जिससे ईंटें जोड़ी जाती हैं, वह सूखने के बाद संकुचित होता है और फिर बारीक दरारें दिखलाई देने लगती हैं। यदि दीवारों में दरारें होंगी तो उनमें शक्ति बिल्कुल नहीं रहेगी और ये भूकंप के दौरान आसानी से धराशायी भी हो जाएंगी। इसके विपरीत, रैकी में अडोबी ईंटों को जोड़ने के लिए जिस मिट्टी के गारे का प्रयोग किया गया था, उससे इस प्रकार की दरारें नहीं आतीं। इस गारे के नमूने के परीक्षण से पता चला कि इसमें घासफूस और बालू अच्छी मात्रा में मिलाये गये हैं। यह बारीक दरारों को नियंत्रित करने का प्रभावी उपाय है। किंतु विकास के दौर में आधुनिक भवन सामग्रियों का अत्यधिक प्रयोग होता चला गया और कच्ची मिट्टी से धीरे-धीरे इनका लोप हो गया।

मिट्टी के मकानों की छतें और नींव

छतों और नीवों का निर्माण मिट्टी के मकानों के सबसे महत्वपूर्ण पर खर्चीला भाग हैं। पेरु के प्राचीन इन्का भवनों की नींवों में पत्थरों को सुनिश्चित आकारों में काटा गया है और सुव्यवस्थित रूप से लगाया गया है। 17 वीं से 19 वीं सदी के मध्य निर्मित अनेक स्पेनिश गिरजाघरों की नींवों में पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़ों का प्रयोग किया गया है, जिनकी जुड़ाई चूने के मसाले से की गयी है। ये चर्च आज भी सुरक्षित खड़े हैं। काष्ठ-स्तंभों और ठूंसी हुई मिट्टी से सस्ती पर काम टिकाऊ नींवें बनती हैं। प्रबलित सीमेंट कंक्रीट से या पकी हुई ईंटों की पोर्टलैंड सीमेंट के मसाले से जुड़ाई कर बनायी गयी नींवें आजकल दिखाई देती हैं, जो बहुत ही टिकाऊ हैं, किंतु महंगी हैं।

नींवों का कार्य है - दीवारों और छतों का भार वहन करना तथा दीवार के आधारों को बहते पानी से होने वाले अपक्षयन से बचाना। दीवार की मोटाई, छत का भार, निर्माण-स्थल पर मिट्टी की गुणता एवं मौसमी परिस्थितियों के आधार पर नींव का आकार निर्भर होता है। चूंकि विश्व के अधिकतर भागों में कटे हुए पत्थर तुरंत उपलब्ध नहीं हो पाते हैं, अत: कच्ची मिट्टी की इमारतों की नींवों को बनाने के लिए लाइम-पोत्स्वालान कंक्रीट या पोर्टलैंड सीमेंट कंक्रीट का प्रयोग अच्छा माना गया है। शुद्ध पोर्टलैंड सीमेंट के एक बैग के बदले पोत्स्वालान का प्रयोग या पोर्टलैंड - पोत्स्वालान या पोर्टलैंड - स्लैग सीमेंट का प्रयोग किया जा सकता है।

जहां पोर्टलैंड सीमेंट तुरंत उपलब्ध न हो या बहुत महंगा हो, वहां लाइम-पोत्स्वालान मसाले का प्रयोग किया जा सकता है, बशर्ते कि लाइम और पोत्स्वालान अच्छी गुणवत्ता वाले हों। पोत्स्वालान ज्वालामुखी भस्म है, जो प्राकृतिक रूप से मिलती है। दूसरी प्रकार के भस्में उद्योगों से प्राप्त होती हैं, जैसे - चूर्णित कोयला भस्म या सुर्खी जो पक्की ईंटों को पीस कर बनायी जाती है। इनमें सिलिका अक्रिस्टलीय रूप में होता है। सिलिका सामान्य तापक्रम में चूने (लाइम) और जल की उपस्थिति

में सीमेंट के गुण वाला पदार्थ बनाने में समर्थ होता है। इस हेतु ताजा कैल्सीकृत और जलीकृत चूना ही प्रयोग में लाना चाहिए। वैसे चूना-पोत्स्वालान सीमेंट बनाने हेतु सभी प्रकार के कोयला-भस्म, सुर्खी और पोत्स्वालान उपयुक्त नहीं होते हैं। गुणवत्ता के परीक्षण के लिए एक भाग जलीकृत चूना और तीन भाग पोत्सावालान के मिश्रण में इतना जल मिलाया जाता है कि वांछित पेस्ट तैयार हो सके। इसे फिर गेंद या टिकिया के आकार में ढाला जाता है। फिर इसका सप्ताह भर जलीय उपचार किया जाता है। इसके बाद से कूटा जाता है, जिससे इसकी शक्ति का पता लग जाता है।

माटी के मकानों की छतों के लिए प्रयुक्त पारंपरिक सामग्रियों में खपरैल, बांस, घास-फूस के छप्पर और स्लेट प्रमुख हैं। अधिक टिकाऊ और खर्चीली सामग्रियों में जस्तेदार लोहा, एस्बेस्टस सीमेंट एवं ग्लास या स्टील फाइबर आदि हैं, जिनसे लहरदार छतें बनाई जाती हैं। दीवारों के आधार से पानी दूर गिरे, इसलिए एक छत को आधा मीटर बाहर की ओर निकला होना चाहिए। इसे हवा, पानी, आग, कीट एवं भूकंप प्रतिरोधी भी होना चाहिए।

सामान्यतः छप्पर का निर्माण सरकंडा, ताड़, तालपत्र, घास या गेहूं, धान, जई व जौ की कटाई के बाद बचे घास-फूस से किया जाता है। छप्पर डालने का कार्य बाहरी किनारों से आरंभ किया जाता है और यह ऊपर की ओर कतारों में आगे बढ़ता है। छप्पर के ऊपर की कतारें, नीचे की कतारों को इस प्रकार ढंकती हैं कि पानी के बहकर बाहरी सतह तक आने के लिए मार्ग बन जाता है। छप्पर का पिच कम से कम 50^0 होना चाहिए, ताकि बरसात का पानी आसानी से बहकर बाहर आ सके। ये छप्पर गर्म या ठंडी हवाओं से बचाव के साथ साथ, हल्के भार वाले और सुंदर होते हैं। किंतु इनमें कीटों, रोडेंटों और कवकों का आक्रमण हो सकता है और ये अत्यधिक ज्वलनशील भी हैं। ऐसे छप्परों को अग्नि-सह बनाने कि एक विधि सामने आयी है, जिस के अंतर्गत इन्हें अमोनियम फास्फेट के धोल से सिंचित किया जाता है। अमोनियम फास्फेट एक उर्वरक है, जो आसानी से उपलब्ध होता है।

उष्ण-कटिबंधीय और अर्धउष्ण-कटिबंधीय प्रदेशों में जहां बांस बहुलता से पाये जाते हैं, छतों का निर्माण बांसों से किया जाता है, जो जल-सह होते हैं। इसके लिए बांसों को लंबाई में चीरकर दो अर्धवृत्ताकार भागों में विभाजित कर लिया जाता है। फिर इन विभाजित टुकड़ों को इनकी लंबाई में एक-दूसरे में फंसाकर छत का निर्माण किया जाता है। किंतु बांसों से बनी छत को कीटों के आक्रमण से खतरा होता है। इस आक्रमण को कम करने के लिए बांसों की शर्करा को निकालना आवश्यक होता है। इसके लिए बांसों को प्रयोग से पूर्व करीब एक सप्ताह तक पानी में डुबो कर रखना होता है।

अग्नि-सह मिट्टी के टाइलों से भी अच्छी छतों का निर्माण किया जा सकता है, किंतु ये भारी होती हैं और भूकंप के दौरान खतरनाक भी। शुष्क जलवायु वाले क्षेत्रों में कभी-कभी सरकंडे की छतों पर कच्ची मिट्टी की टॉपिंग की जाती है, ताकि बरसाती पानी का रिसाव रोका जा सके। किंतु शुष्कता के कारण हुए सिकुड़न से यदि टॉपिंग में दरारें हो जाएँ तो फिर यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पाता। इस समस्या का समाधान करने के लिए कच्ची मिट्टी की टॉपिंग के बदले टाइलों का प्रयोग किया जा सकता है। छप्पर, बाँस या टाइल की छतों को लीक-प्रूफ बनाने के लिए एक और बेहतर तरीका है – लेटेक्स द्वारा निर्मित प्लास्टिक शीटों से छतों का ढंका जाना। भारतीय वैज्ञानिकों ने पाया है कि कैक्टस की एक जाति (यूफोर्बिया निवूलिया और यूफोर्बिया नेरीपोलिया) दूध जैसा द्रव स्रावित करती है, जिसका प्रयोग जल-सह प्लास्टिक फिल्मों के निर्माण में मुख्य कच्ची सामग्री के रूप में किया जा सकता है।

मिस्र में लगभग 2000 वर्ष ईसा पूर्व कच्ची मिट्टी की ईंटों की मेहराबदार छतों का प्रयोग किया जाता था। मेहराबदार छतें बनाने की कला वहाँ आज भी व्यवहार में लायी जाती हैं। यद्यपि ये सौंदर्य की दृष्टि से आकर्षक लगते हैं, किंतु इनका निर्माण बड़ा कठिन है। मेहराब की साइज भी सामान्यतः डेढ़ टर तक सीमित होती है।

उष्ण कटिबंधीय और उप-उष्ण कटिबंधीय इलाकों में जहाँ भारी वर्षा होती है, छतों के लिए जस्तेदार लोहे की लहरदार शीटें, एस्बेस्टस सीमेंट या प्लास्टिक अपने टिकाऊपन के कारण अधिक लोकप्रिय हैं। किंतु इनमें कुछ कमियां भी हैं। जस्तेदार लोहे की शीटें महंगी होती हैं तथा इनसे बनी छतें गर्मी में अत्यधिक गर्म और शीत में अत्यधिक ठंडी हो जाती हैं। फिर जंग लग जाने से ये अच्छी नहीं दिखाई देती हैं और तूफान आदि के आने से ये ख़तरनाक भी सिद्ध हो सकती हैं। थर्मोप्लास्टिक रेजिनों (पॉलीएथिलिन, पॉली प्रापिलीन, पॉली विनाइल क्लोराइड और पॉलिस्टाइरिन आदि) से बनी प्लास्टिक शीटें थर्मोसेटिंग रेजिनों (फिनॉल-फार्मेल्डिहाइड, अनरिफार्मेल्डिहाइड एवं पॉलिस्टर्स) से सस्ती पड़ती हैं। किंतु ये दोनों प्रकार की प्लास्टिक शीटें आग की अच्छी प्रतिरोधी नहीं हैं। इसी प्रकार, एस्बेस्टस से बने उत्पाद भी आजकल ठीक नहीं माने जाते, क्योंकि इनसे फेफड़ों के कैंसर का ख़तरा होता है। अत: इनके विकल्प के रूप में ग्लास-फाइबर और स्टील फाइबर के सीमेंट मिश्रण तैयार किये गये हैं, किंतु ये और भी महंगे हैं।

जूट, सीसल, नारियल की जटा आदि प्राकृतिक रेशों से प्रबलित सीमेंट-मिश्र भी बनाये जा रहे हैं, किंतु जलीकृत पोर्टलैंड सीमेंट के क्षारीय परिवेश में इनका टिकाऊपन सुनिश्चित नहीं है। इस दिशा में आगे यह खोज की गयी है कि धान के छिलके की भस्म और चूना या पोर्टलैंड सीमेंट से बने सीमेंट-मिश्र में जलयोजन के पश्चात क्षारीयता अल्प या नहीं के बराबर होती है। अत: अब खोज कार्य की दिशा धान के छिलकों की भस्म और प्राकृतिक रेशों से बने सीमेंट से छत के पेनलों और टाइलों के निर्माण की ओर होना चाहिए। इससे कम लागत में मजबूत और टिकाऊ छतों का निर्माण संभव होगा।

कच्ची मिट्टी की मजबूत दीवारें और पलस्तर

अफ्रीकी, एशियाई एवं मूल अमरीकी भवन परंपराओं के अंतर्गत प्राकृतिक योजकों का प्रयोग रहा है। इन योजकों में गोबर, कैक्टस-लुगदी, सेमी की फलियां व केले के वृंत से निकाले गये सार-पदार्थ आदि हैं। अडोबी ईंटों को जोड़ने या दीवारों पर पलस्तर करने के लिए बनाये गये गारे में इन्हें मिलाकर प्रयोग करने से गारे के आर्द्रता-प्रतिरोध में सुधार आता है। पेरू के कैथोलिक विश्वविद्यालय में मिट्टी के पलस्तर का कृत्रिम वर्षा में परीक्षण किया गया। प्रारंभिक जांच से पता चला कि वहां उपलब्ध केले के वृंत और सेमी की फलियां अपारगम्यता और क्षरण प्रतिरोध में सुधार लाने में प्रभावकारी नहीं थे। किंतु वहां पाये जाने वाले कैक्टस (ओपंशिया फिकसइंडिका) के वृंत की कतरनों में इन्हें समान मात्रा में मिलाकर प्राप्त किया गया लसीला विलयन बहुत ही प्रभावकारी पाया गया, बशर्ते कि कैक्टस समुचित रूप से विकसित रहा हो।

कैथोलिक विश्वविद्यालय, लीमा में हुए खोज-कार्यों से यह सिद्ध हुआ है कि निर्माण के कुछ तरीके भी अडोबी-मेसनरी के टिकाऊपन को बढ़ाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि गारे में ठीक-ठीक पानी मिलाया जाये, ताकि काम चल जाये, तो इससे दरारों की संख्या और इनकी चौड़ाई को कम किया जा सकता है। इसी प्रकार ईंट की सतह को गारे के प्रयोग के कुछ मिनट पहले यदि पानी से गीला कर लिया जाये, तो ईंट और गारे की आर्द्रताओं में अंतर कम हो जाता है, जिससे सूखने के बाद होने वाले संकुचन की दर कम हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कम लागत के मकानों के निर्माण के लिए कच्ची मिट्टी की ईंटों का मुख्य पदार्थ के रूप में प्रयोग करने में कहीं भी कोई त्रुटि नहीं है। औद्योगिक क्रांति के कारण कच्ची मिट्टी से मकान बनाने की तकनीकें धीरे-धीरे लुप्त हो गयी थीं। किंतु प्राचीन काल में बने मिट्टी के मकानों को लेकर हुई खोजों से पुन: यह बात सामने आयी कि विश्व की भीषण आवास-समस्या को मिट्टी के मकानों द्वारा ही हल किया जा सकता है। हमारे देश में केंद्रीय भवन निर्माण अनुसंधान संस्थान (सी.बी.आर.आई.) द्वारा इस दिशा में उल्लेखनीय और सफल प्रयास किये गये हैं।

❑❑❑

अग्निरोधी लकड़ी का प्रयोग : एक पर्यावरण स्नेही विकल्प*

एन. एस. त्यागी, जे. पी. जैन
एवं एस. सिंह
अग्नि अनुसंधान प्रयोगशाला,
केंद्रीय भवन अनुसंधान संस्थान, रुड़की - 247 667

जहां एक ओर लकड़ी की सहज उपलब्धता, नक्काशी और रंगरोगन में आसानी, आकर्षण और टिकाऊपन के कारण प्राचीन काल से ही भवनों में इसका अविराम प्रयोग होता चला आ रहा है । वहीं इसकी ज्वलनशीलता प्रदूषण की एक समस्या भी बन गयी है । अत: भवन निर्माण में अग्निरोधी लकड़ी की आवश्यकता से नकारा नहीं जा सकता है । इस लेख में अग्निरोधी लकड़ी के विकास की दिशा में रुड़की विश्वविद्यालय में चल रहे प्रयास की जानकारी दी गयी है ।

औद्योगिक विकास हमारी आवश्यकता है और विकास के साथ पर्यावरण प्रदूषण तो बढ़ेगा ही । अत: प्रदूषण पर नियंत्रण का ऐसा उपाय करना जिसका औद्योगिक विकास पर दुष्प्रभाव न पड़े समय की मांग है । बिगड़ते पर्यावरण को बचाने का एकमात्र उपाय वन ऊर्जा संरक्षण एवं संवर्धन ही है यह बात अब पूरी दुनिया जान गयी है । वन ऊर्जा संरक्षण पर्यावरण संरक्षण का पर्याय है । वन न काटे जायें यह तभी संभव है जब लकड़ी की खपत घटाई जाये और इसके लिए आवश्यक है लकड़ी के विकल्पों का प्रयोग तथा जहां जिस किसी कार्य में लकड़ी का प्रयोग अपरिहार्य हो वहां अग्निरोधी लकड़ी का ही प्रयोग किया जाये ।

लकड़ी की खपत :

वन विकासशील देशों के लिए ऊर्जा के प्रमुख स्रोत हैं । इन देशों के अधिकांश लोगों को खाना पकाने के लिए जलाऊ लकड़ी वनों से ही मिलती है । उत्तरोत्तर प्रगति के बावजूद आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में ईंधन का मुख्य स्रोत जलाऊ लकड़ी ही है । केवल भारत में ही 70 प्रतिशत आबादी गांवों में रहती है जो घरों में काम आने वाली ऊर्जा का 68.5 प्रतिशत लकड़ी से प्राप्त करती है । वर्ष भर में जितनी जलाऊ लकड़ी पैदा होती है उतनी मात्र तीन महीनों में चूल्हों में झोंक दी जाती है और बाकी कमी जंगलों और बागों का सफाया करके पूरी कर ली जाती है । कोई भी अन्य ऊर्जा स्रोत गांवों के इस सुलभ ऊर्जा स्रोत का स्थान नहीं ले पाया है ।

भवन निर्माण, भवन की साज-सज्जा और उसमें रहन-सहन की सुख-सुविधा की चीजों में लकड़ी का प्रयोग होता है । भवन निर्माण के समय दरवाजे, खिड़कियों, पार्टीशन, रोशनदान और अल्मारियों आदि में लकड़ी की खपत होती है । भवन की साज-सज्जा और दक्षता के लिए उसकी दीवारों पर परत (वाल लाइनिंग), लकड़ी का फर्श, छत के नीचे लकड़ी की परत (फाल्स सीलिंग), पेल्मेट आदि में लकड़ी का प्रयोग किया जाता है । कुर्सी, मेज, सोफा, पलंग, तख्त, अल्मारी, रैक आदि भवन में रहने वालों की सुख-सुविधा की चीजें हैं, और इन सबमें प्राय: लकड़ी का ही प्रयोग किया जाता है । कुछ ऐसे भी स्थान हैं जहां पूरा भवन ही लकड़ी का बनाया जाता है और यह आर्थिक स्थिति, अथवा आकर्षणवश नहीं बल्कि भौगोलिक परिस्थितिवश । यह वहां की अनिवार्यता है, विवशता है । उदाहरणार्थ पहाड़ी क्षेत्र और भूकंप क्षेत्र । भवन निर्माण के कार्य के लिए प्रयोग में

**20-21 अप्रैल 1995 के दौरान 'ऊर्जा एवं पर्यावरण' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत वार्ता ।*

आने वाला शटरिंग सारा लकड़ी का ही होता है ।

कृषि कार्य में उपयोग होने वाले औजारों और यातायात संबंधित साधनों (वाहनों आदि) में लकड़ी की काफी खपत होती है। यदि लकड़ी का प्रयोग इसी प्रकार होता रहा तो कुछ ही सालों में भारत वन-दरिद्र हो जायेगा और तब पर्यावरण प्रदूषण की क्या स्थिति होगी यह कल्पना भी भयावह लगती है ।

आग के कारण लकड़ी की क्षति :

किसी भी कारण से प्रज्वलित आग के संपर्क में आने पर पहले लकड़ी गरम होती है और जब उसका तापमान 200-300 ^{0}सें. हो जाता है तो उसमें स्थित सेलूलोज और हेमीसेलूलोज के तन्तु टूटने लगते हैं जिससे कार्बन मोनोआक्साइड, हाइड्रोजन, मीथेन गैस और कार्बनिक वाष्प निकलने लगती हैं जो ज्वलनशील होने के कारण ज्वाला के रूप में जलना शुरू कर देती हैं । जब लकड़ी का तापमान 400^{0}सें. तक पहुंच जाता है तो उसमें स्थित लिगनिन के अणु भी टूटकर ज्वलनशील गैस उत्पन्न करते हैं । लकड़ी के अंदर का बंधक (रेजिन) भी गरम होकर लकड़ी की सतह पर आने लगता है और जलने लगता है । लकड़ी में यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक पूरी लकड़ी जलकर राख बनती हैं। इस प्रकार आग के कारण भवन में प्रयोग हुई लकड़ी की भारी क्षति होती है और इसकी पूर्ति वनों को काटकर ही जाती है।

लकड़ी पर अग्निरोधी उपचार :

लकड़ी पर प्रयोग के पूर्व अथवा प्रयोग के बाद अग्निरोधी उपचार कर दिया जाये तो लकड़ी आग में नहीं जलेगी । भवन में प्रयुक्त लकड़ी के दरवाजे, खिड़की, पार्टीशन, रोशनदान, वाल लाइनिंग, फर्श, फाल्ससीलिंग आदि को अग्निरोधी बनाने के लिए इन पर अग्निरोधी पेन्ट करना होगा । अग्निरोधी पेन्ट में इस प्रकार के रसायन होते हैं जो गरम होने पर फूलते हैं और लकड़ी की सतह तथा अग्निस्रोत के बीच एक ऊष्मा कुचालक दीवर सी बना लेते हैं । क्योंकि लकड़ी अग्नि के सीधे संपर्क में नहीं आती है अतः लकड़ी का तापमान उस सीमा तक नहीं पहुंच पाता जिस पर ज्वलनशील गैस उत्पन्न होती है और

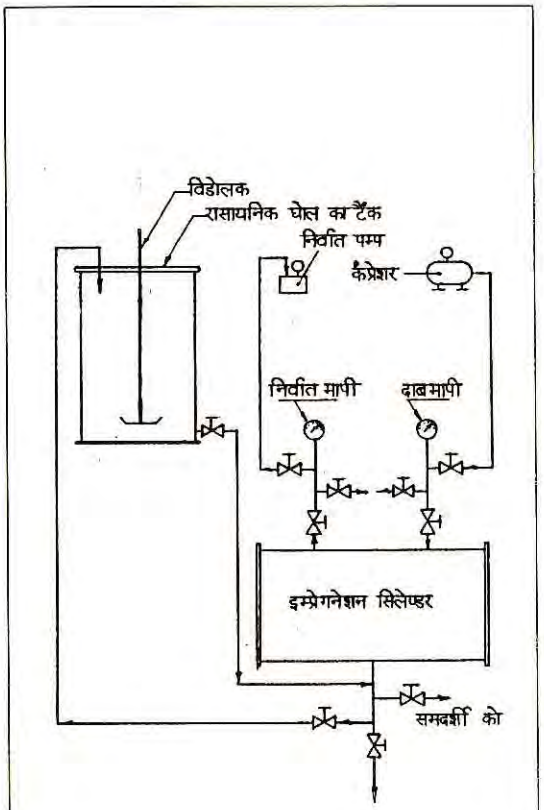

चित्र-1 : निर्वात-दाब इम्प्रेगनेशन संयंत्र

लकड़ी अग्निरोधी बन जाती है ।

लकड़ी पर अग्निरोधी उपचार की दूसरी विधि है केमीकल इम्प्रेगनेशन विधि (चित्र-1) । केंद्रीय भवन अनुसंधान संस्थान रूड़की की अग्नि अनुसंधान प्रयोगशाला में गहन अध्ययन एवं परीक्षणों के आधार पर एक अग्निरोधी रासायनिक घोल तैयार किया गया और एक वैक्यूम-प्रेशर, इम्प्रेगनेशन संयंत्र का विकास किया गया। इस संयंत्र में विभिन्न आकार के लड़की के दरवाजे, खिड़की, पार्टीशन तथा अन्य अवयवों पर अग्निरोधी उपचार किया गया । इस विधि से भी उपचार लकड़ी की सतह पर एक गहराई तक ही हो पाता हे अतः उपचार के बाद लकड़ी की सतह पर छिलाई या कटाई नहीं की जा

सकती है। लकड़ी से जो भी अवयव बनाना है पहले उसे पूर्णरूपेण तैयार कर लिया जाये ताकि उपचार के बाद केवल तुकाई ही करनी पड़े।

केमीकल इम्प्रेगनेशन विधि से लकड़ी को अग्निरोधी बनाने के लिए पहले लकड़ी के तैयार अवयवों को सुखा लिया जाता है। सूखी लकड़ी को संयंत्र के सिलेन्डर में भरकर ढक्कन बंद कर दिया जाता है। निर्वात पंप की सहायता से लकड़ी के छिद्रों से हवा बाहर खींच ली जाती है। खाली छिद्रों में रसायनों का घोल भर देते हैं। घोल को लकड़ी में गहराई तक पहुंचाने के लिए वायु कम्प्रेशर का प्रयोग किया जाता है। इस पूरी प्रक्रिया में एक घंटे का समय लगता है। लकड़ी को सिलेन्डर से बाहर निकालकर सुखाने के बाद कुछ समय के लिए गरम किया जाता है और इस प्रकार से उपचारित लकड़ी जब आग के संपर्क में आती है तो उसमें दहन या ज्वाला का फैलाव नहीं होता है यानि लकड़ी पूरी तरह से अग्निरोधी बन जाती है।

अग्निरोधी घोल के रसायनों में एक विशेष गुण यह भी है कि उपचारित लकड़ी का दीमक, बीझन और फफूँदी से भी बचाव हो जाता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अग्निरोधी उपचार के संयंत्र लगाये जायें और भवन में या अन्य कार्य में जहाँ भी लकड़ी का प्रयोग अनिवार्य हो वहां प्रयोग होने वाला लकड़ी का हर अवयव उपचार के बाद ही प्रयोग किया जाये।

भवन सामग्री के रूप में और ईंधन के रूप में लकड़ी का प्रयोग घटाया जाये। इसके सुग्राहय विकल्प खोजे जायें, उनकी जानकारी आम आदमी तक पहुंचायी जाये और उपलब्धता आसान बनायी जाये। भले ही विकल्प लकड़ी का स्थान न ले पा रहे हों तो भी पर्यावरण के प्रति लोगों को इतना सजग किया जाये कि वे बेहिचक इनका प्रयोग करने लगें। जहां लकड़ी का प्रयोग अनिवार्य समझा जाये वहां अग्निरोधी लकड़ी का ही प्रयोग किया जाये और अग्निरोधी लकड़ी सबको सहज उपलब्ध हो सके इसका प्रबंध किया जाये। जलाऊ लकड़ी के बजाय तेल, गैस, सौर ऊर्जा या किसी अन्य विकल्प का प्रयोग बढ़ाया जाये।

लकड़ी के विकल्पों का प्रयोग और लकड़ी के सही रख-रखाव तथा संरक्षण से लकड़ी की खपत में कमी आयेगी, इससे वनों की अंधा-धुंध कटाई पर अंकुश लगेगा और इसका सीधा प्रभाव पर्यावरण प्रदूषण पर पड़ेगा। अग्निरोधी लकड़ी का प्रयोग करने से लकड़ी की खपत में कमी आयेगी और इस प्रकार वन ऊर्जा संरक्षण तथा पर्यावरण संरक्षण की दिशा में यह एक प्रभावी कदम सिद्ध होगा।

❐❐❐

दिल्ली, उ. प्र., बिहार, बंगाल, म. प्र., राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात तथा पंजाब में प्रसारित
सरकारी एवं प्राइवेट नौकरियां तथा ट्रेनिंग एवं शैक्षणिक प्रवेश सूचनाएं देने वाला समाचार पत्र

रिक्तियाँ

रोजगार समाचार

सम्पादक - पटेल एवं डॉ. अनिल कटियार

एक प्रति का मूल्य 2 रूपये। विज्ञापन दरों के लिए हमें लिखें।

वार्षिक शुल्क 50 रूपये मनिआर्डर, बैंक ड्राफ्ट से भेजकर घर बैठे डाक द्वारा प्राप्त करें।

पता : 211 एच-1 किदवई नगर, कानपुर -11
फो न - 273361

विज्ञापन विभाग : पटेल एडवरटाइजिंग,
परेड चौराहा, दि माल, कानपुर-1, फोन 316041

अंतरिक्ष में विचरते धूमकेतु

डॉ. (कु.) परवीन ख़ान
व्याख्याता, रसायनशास्त्र,
राजकीय महाविद्यालय,
टोंक (राजस्थान) - 304 001

शूमेकर लेवी-9 नामक धूमकेतु का दिखायी देना एवं उसकी जुलाई 1994 में ब्रहस्पति से टक्कर, हम पृथ्वीवासियों के लिए एक विलक्षण घटना है। इसलिए "धूमकेतु" एक बार फिर चर्चा के विषय बन गये हैं। लेखिका ने इस विषय पर काफी रोचक जानकारियां इस लेख में दी हैं।

नेब्यूले या निहारिकाओं से सौर मंडल की उत्पत्ति के समय सूर्य व उसके ग्रहों, उपग्रहों, अवंतर तारों, उल्काओं एवं अन्य आकाशीय पिंडों के साथ ही धूमकेतु भी जन्म लेते हैं। इस प्रकार ये भी सौर मंडल के ही सदस्य हैं।

पुरातन धारणाओं के अनुसार तो 'धूमकेतुओं या पुच्छलतारों' का दिखायी देना अशुभ है परंतु आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चलता है कि इनका दिखायी देना व पृथ्वी या अन्य उपग्रहों या ग्रहों से टकराना एक प्राकृतिक घटना है, जो अनंत काल से होती आयी है और होती रहेगी।

धूमकेतु अंतरिक्ष में विचरते हुए प्रकाशवान तारों की तरह दिखायी देते हैं तथा सौर मंडल के ग्रहों के बीच एक लंबे वृत्ताकार कक्ष में सूर्य की परिक्रमा करते हैं। हमारे नज़दीक आने पर इनके गोल भाग के पीछे एक लंबी चमकदार 'बालों या पूंछ' सदृश रचना भी दिखायी देती हैं। जिसके कारण इन्हें 'कॉमेट' व 'पुच्छल तारों' के नाम से पुकारा जाता है। परंतु यह तारे नहीं होते क्योंकि इनमें न तो हाइड्रोजन संलयन क्रिया होती है और न ही इनका अधिकांश भाग ठोस होता है।

वैज्ञानिकों का मानना है कि धूमकेतुओं का जन्म 45,000 लाख वर्ष पूर्व हुआ होगा। परंतु सौर मंडल किस प्रकार बना यह अभी भी शोध का विषय है। ऐसा विश्वास है कि सौर निहारिका धूल और गैस का एक बादल था जिसमें संकुचन से ताप व दाब में आये परिवर्तनों के कारण संलयन क्रियाएं होने लगीं। जिससे सबसे पहले सूर्य बना। सूर्य के अत्यधिक गर्म होने के कारण सौर निहारिका से वाष्पशील एवं हल्के पदार्थ बाहर निकलने लगे। ठोस पदार्थों से गुरुत्वाकर्षण बल के कारण ठोस ग्रह जैसे बुध, शुक्र, मंगल व पृथ्वी बने तथा वे ठोस ग्रह पदार्थ जो दूर छिटक गये थे उन्होंने अपने चारों ओर अपनी गुरुत्वाकर्षण शक्ति से हाइड्रोजन और हीलियम इत्यादि गैसों को बांध लिया। ऐसे ग्रह हैं ब्रहस्पति, शनि, यूरेनस (अरुण) व नेपचून (वरुण)।

ग्रह बनने के पश्चात जो भी पदार्थ बचा (जिसमें धूलकण एवं हाइड्रोजन व इसके हल्के यौगिक भी थे) उसके मिश्रण के जम जाने से धूमकेतु बने। फ्रेड विपिल के "डर्टी स्नोबॉल" सिद्धांतानुसार धूमकेतुओं का 70 से 80 प्रतिशत भाग बर्फ की तरह जमा हुआ तथा बाकी भाग हाइड्रोजन, मीथेन, अमोनिया व जल आदि से बना होता है। जब इन पर कोई तारा अपना गुरुत्वाकर्षण बल लगाता है तो यह सूर्य के समीप आ जाते हैं तथा इसके अत्यधिक ताप के कारण इन में से वाष्पशील पदार्थ एवं गैसें विसर्जित होकर इनके केंद्र (व्यास =1 से 1000 किमी.) के चारों ओर एकत्र हो जाती हैं तथा सूर्य के प्रकाश से चमकने लगती हैं। जिसे 'कोमा' कहते हैं (चित्र- 1)। कोमा के चारों और इन गैसों का लाखों किमी. के फैलाव का एक बादल बन जाता है। धूमकेतु ग्रहों की तरह की अपनी दीर्घवृत्तीय कक्षा में चक्कर लगाते हैं परंतु यह अपेक्षाकृत विकेंद्रीय होती है। जब यह परिक्रमा करते हुए सूर्य के समीप पहुंचते हैं तो उसके विकिरण दाब (रेडिएशन प्रेशर) के कारण हल्की गैसें व धूल के कण इनके मुख्य भाग

से निकलकर सूर्य की विपरीत दिशा में लाखों किमी. लंबाई तक बिखरने लगते हैं जिससे एक चमकदार 'पूंछ' सी बन जाती है। परंतु जब यह अपनी कक्षा में दूर चले जाते हैं तो यह चमक व पूंछ दोनों ग़ायब हो जाती हैं और यह भी हमें दिखायी नहीं देते।

प्रो. जे. एक. ओवर्ट के अनुसार सूर्य से 3000 से 10,000 खगोलीय इकाई दूर 'ओर्टक्लाउड' में लगभग 10^{12} से 10^{13} तक धूमकेतु हैं। धूमकेतु दो प्रकार के हैं। एक जो सूर्य की परिक्रमा करे हुए हमें एक निश्चित काल बाद फिर दिखायी देते हैं जिन्हें आवर्तीय धूमकेतु कहा जाता है। दूसरे "आंतरतारकीय पिंड" हैं जो अपने जीवन में केवल एक बार सूर्य परिक्रमा करने आते हैं। पर यह अंतरिक्ष में कहां से आते हैं और कहां जाते हैं कोई नहीं जानता।

वैसे तो धूमकेतु मानव तभी से देखता आया है जब से चांद-तारे। दूसरे तारों और ग्रहों की तरह ही इनके प्रति भी वह जिज्ञासु रहा और भांति भांति की कल्पनाएं करता रहा। 322 वर्ष ईसा पूर्व अरस्तु ने भी इन्हें अनियमित एवं अनिश्चित गुणों वाले पिंड बताया। बाद में चीनियों व यूरोपवासियों ने धूमकेतुओं का नियमित अध्ययन किया एवं आंकड़े भी संजोये जो धूमकेतुओं के इतिहास की दृष्टि से आज भी महत्वपूर्ण हैं। अब तक वैज्ञानिक लगभग 700 छोटे व 50 बड़े धूमकेतुओं की खोज कर चुके हैं जिनमें से खगोलीय दृष्टि से महत्वपूर्ण कुछ चर्चित धूमकेतु निम्न दिये गये हैं :

हैली पुच्छलतारा

इसकी पहचान सर्वप्रथम एडमण्ड हैली ने की। उन्होंने कहा कि 1456, 1531, 1607 एवं 1682 में दिखायी देने वाले पुच्छलतारा एक ही तारे का एक विशेष अंतराल (76 वर्ष) के पश्चात सूर्य की परिक्रमा करने आना है। उन्होंने भविष्यवाणी की कि यह तारा फिर 1758 में दिखायी देगा और ऐसा ही हुआ। तब ही इसको "हैली के पुच्छलतारे" का नाम दिया गया। पिछली बार यह 1985-86 में दिखायी दिया था। 11 अप्रैल, 1986 को यह पृथ्वी से सबसे कम दूरी लगभग 630 लाख किमी. दूर था। तब इसके केंद्र का व्यास लगभग 6 किमी. व

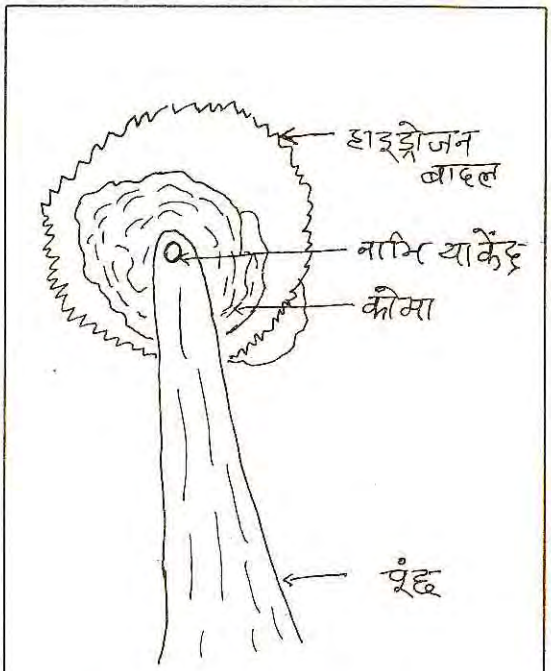

चित्र-1 धूमकेतु के भाग

पूंछ की लंबाई 800 किमी. आंकी गयी थी। अब यह 2061 में दिखायी देगा। इस समय हैली की आयु लगभग 16,000 वर्ष है व इसे सूर्य परिक्रमा में 1,22,000 लाख किमी. का चक्कर लगाना पड़ता है।

बीले धूमकेतु

यह धूमकेतु अब अस्तित्व में नहीं है फिर भी इतिहास की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। यह 1772, 1805, 1832 एवं 1839 में दिखायी दिया था। हालांकि इसका सूर्य परिक्रमा काल लगभग पौने सात साल था परंतु यह अधिकतर पृथ्वी से दिखायी नहीं देने की स्थिति में होता था। 1845-46 में यह दो पूर्ण धूमकेतुओं के रूप में दिखायी दिया। 1852 व 1866 में इनकी बीच की दूरी बढ़ी हुई दिखायी दी और फिर 27 नवंबर, 1872 की रात को अचानक इसके छोटे बड़े लगभग 1,60,000 टुकड़े उल्काओं के रूप में पृथ्वी की ओर आये परंतु वायु मंडल में ही जल कर नष्ट हो गये। अनुमान है कि सूर्य या किसी दूसरे ग्रह के

तालिका -1 : डॉ. राजकमल जैन, बिड़ला प्लेनेटोरियम के निदेशक द्वारा श्रृंखला बद्ध शूमेकर लेवी-9 व ब्रहस्पति की टक्कर

पुच्छलतारे की नाभिक संख्या	नाभिक का लगभग आकार (किमी.)	भारतीय समयानुसार टक्कर का समय जु. '94	(बजे)	ब्रहस्पति पर टक्कर के स्थान का अक्षांश	टक्कर वाले स्थान को ब्रहस्पति के केन्द्र पर आने में लगने का समय बजकर	मिनट
ए 21	1.0	17	01 31(पू.)	- 13.3	2	48
बी 20	1.0	17	08 41(पू.)	- 43.3	2	47
सी 19	1.5	17	12 28(अप.)	- 43.4	2	47
डी 18	1.0	17	05 30(अप.)	- 43.5	2	47
ई 17	2.5	17	08 24(अप.)	- 43.6	2	47
एफ 16	2.5	18	08 09(पू.)	- 43.1	2	48
जी 15	3.5	18	12 57(अप)	- 43.2	2	48
एच 14	3.5	18	08 08(अप.)	- 43.8	2	48
के 12	4.0	19	04 30(अप.)	- 43.9	2	42
एल 11	3.5	20	04 20(पू.)	- 44.0	2	43
एन 9	1.0	20	03 48(अप.)	- 45.0	2	46
पी$_2$8बी	2.0	20	09 07(अप.)	- 45.1	2	45
क्यू $_2$7बी	1.0	21	00 55(पू.)	- 44.9	2	41
क्यू $_1$ 7 ए	3.0	21	01 25(पू.)	- 44.1	2	40
आर 6	2.0	21	11 18(पू.)	- 44.2	2	40
एस 5	3.5	21	08 53(अप.)	- 44.2	2	39
टी 4	1.0	21	11 58(अप)	- 44.2	2	39
यू 3	1.0	22	04 06 (पू.)	- 44.3	2	38
वी 2	2.0	22	10 18 (पू.)	- 44.3	2	38
डबल्यू 1	2.0	22	01 54(अप.)	- 44.2	2	38

गुरुत्वाकर्षण बल के कारण यह धूमकेतु पहले दो भागों में और फिर हज़ारों टुकड़ों में टूट गया ।

शूमेकर लेवी-9 धूमकेतु

यह धूमकेतु ब्रह्मांड में 4 अरब वर्ष से घूम रहा था परंतु इस की खोज 24 मार्च, 1993 को केलीफ़ोर्निया स्थित वैधशाला में तीन खगोलविदों केरोलीन शूमेकर, उनकी पत्नी यूजीन शूमेकर एवं डेविड लेवी ने मिलकर की । जिनके नाम पर इसका नामकरण हुआ । वस्तुत: अपनी खोज के समय से पहले, जुलाई, 1992 में ही यह ब्रहस्पति के आकर्षण के कारण छोटे-बड़े विभिन्न गतिवाले 21 टुकड़ों में विभक्त हो चुका था । ये किसी माला में मोती अथवा ट्रेन में जुड़े डिब्बों की भांति एक दूसरे के पीछे ब्रहस्पति की ओर बढ़कर, 17 से 22 जुलाई, 1994 के बीच एक के बाद एक उससे टकरा कर नष्ट हो गये । (तालिका-1)

जुलाई, 1994 के प्रारंभ में इनकी गति 60 किमी. प्रतिघंटा थी जो टकराने के समय बढ़कर 2,10,000 किमी. प्रति घंटा हो गयी । हर एक के टकराने से ब्रहस्पति

तालिका-2 : आकाशीय पिंडों द्वारा बनाये गये, पृथ्वी पर पाये जाने वाले क्रेटरों (गढ़ों) का विवरण

स्थान	गढ़ों की संख्या	पिंड का माप (मीटर में)	खोज का वर्ष
एरीज़ोना (अमेरिका)	1	1200	1891
हेनरी (आस्ट्रेलिया)	10	200x110	1931
ओड़ीसा (अमेरिका)	1	170	1921
सारिमा (रूस)	6	100	1927
दबार (अरब)	2	100	1932
सिरवोटे,आलिन (रूस)	>100	28	1947
चब (कनाडा)	1	3500	1946
बर्नेट (कनाडा)	1	3200	1960

पर बड़े-बड़े आग के बबूले उठे व काले धब्बे बन गये। 3 किमी. चौड़े 'एच' टुकड़े से पृथ्वी से भी बड़ा 'काला धब्बा', ब्रहस्पति से भी 50 गुना अधिक अवरक्त विकिरण एवं बहुत तेज प्रकाश उत्पन्न हुआ। इससे वहां का तापमान लगभग $16,000^0$ से. तक पहुंच गया था।

स्वीफ़्ट टटल धूमकेतु

इसको सबसे पहले 1862 में देखा गया था। पिछले दिनों यह चर्चा एवं चिंता का विषय इसलिए बना कि वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी थी कि यह 2126 में पृथ्वी से टकरा कर यहां के जीवन को लगभग समाप्त कर देगा। यह धूमकेतु 8 किमी. चौड़ा है जबकि केवल 10 मीटर चौड़ा कोई भी नक्षत्रीय पिंड पृथ्वी से टकराने पर लगभग 5 हीरोशिमाई बमों के बराबर ऊर्जा उत्पन्न कर सकता है। कहा जाता है कि साढ़े छः करोड़ वर्ष पूर्व एक 10 किमी. व्यास के ऐसे ही किसी धूमकेतु के पृथ्वी से

तालिका-3 : पृथ्वी पर हुई प्रमुख उल्का वृष्टियां

घटना काल (दिनांक)	धूमकेतु जिससे उल्काएं टूटीं	उल्कावृष्टि का नाम
जुलाई-अगस्त,1736	–	परसीड
27-11-1872	'बीले' (संपूर्ण धूमकेतु)	परसीड
(11से15)-8-94	'स्विफ्ट टटल' (पूंछ से)	परसीड
(20से23)-10-94	'हैली'	ओरियोनिड
(17से18)-10-94	'1866 प्रथम'	लियोनिड
(21से23)4-95	'1866 प्रथम'	लाइरिड
(4से5)-5-1995	'हैली'	इटा एक्वीरिड
(27से29)-6-95	'ऐ. के.'	बीटा टॉरिड

टकराने के कारण "डायनासोरों" का अंत एवं "हिमयुग" का प्रारंभ हुआ था। परंतु अब गहन शोधों से पता चला है कि स्वीफ्ट टटल पृथ्वी से टकराये बिना ही निकल जायेगा। फिर भी ऐरिजोना विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों के अनुसार चार धूमकेतु पृथ्वी से लगभग 4 लाख, 4 हजार किमी. दूरी (चंद्रमा से पृथ्वी की दूरी से भी कम) पर आ गये हैं जबकि इससे दुगनी दूरी की निकटता भी पृथ्वी के लिए खतरनाक है।

जब कोई धूमकेतु किसी ग्रह या उपग्रह के अति निकट पहुंच जाता है तो उसकी गुरुत्वाकर्षण शक्ति से बंधकर उसी की परिक्रमा करने लगता है। ऐसे में यदि वह उसकी "रोशे लिमिट" को लांघ जाये तो उसके टुकड़े भी बिखर सकते हैं जो उस ग्रह या उपग्रह से टकराकर विनाश कारी सिद्ध हो सकते हैं। हमारी पृथ्वी पर व अन्य ग्रहों पर पाये जाने वाले 'गढ़े या क्रेटर' इसके ज्वलंत प्रमाण हैं (तालिका - 2)।

1846 में 'बेली का धूमकेतु' सूर्य के बहुत निकट जाने के कारण दो टुकड़ों में व "शूमेकर लेवी-9" जुलाई, 1992 में जब ब्रहस्पति के समीप से गुज़रा तो उसके गुरुत्वाकर्षण व धूमकेतु विशापन (ट्रैपिंग) की घटना के अंतर्गत 21 टुकड़ों में विभक्त हो गया। बाद में "बेली के धूमकेतू" के जो हज़ारों टुकड़े हुए वह पृथ्वी को नुकसान पहुंचाये बिना ही उसके वायुमंडल में जलकर भस्म हो गये परंतु लेवी-शूमेकर-9 के टुकड़ों के ब्रहस्पति से टकराने से उस पर ऊंचे ऊंचे आग के चमकीले बबूले उठे, अत्यधिक ऊर्जा विसर्जित हुई, ताप बहुत बढ़ गया तथा "काली आंखों" सदृश्य कई बड़े-बड़े काले धब्बे बन गये।

इस प्रकार जब कोई धूमकेतु किसी तारे या ग्रह के गुरुत्वाकर्षण बल के कारण टुकड़े होकर पृथ्वी के वायुमंडल में प्रविष्ट करता है व घर्षण एवं विभिन्न गैसों की उपस्थिति के कारण जलने लगता है जिसे 'तारा टूटना' कहते हैं। इसके कारण आकाश में "आतिश-बाजी" का सा दृश्य उत्पन्न होता है। यदि यह टुकड़े बड़े हों तो उनका कुछ भाग तो पृथ्वी के वायुमंडल में जल कर नष्ट हो जाता है परंतु शेष भाग "उल्कापिंड" के रूप में पृथ्वी पर गिर कर क्रेटर बनाता है तथा अपने भार एवं आकार के अनुरूप यहां की जलवायु एवं जीवन पर हानिकारक प्रभाव डालता है। धूमकेतुओं के छोटे-छोटे टुकड़े जो वायुमंडल में ही किन्हीं फुलझड़ियों की भांति जलकर नष्ट हो जाते हैं, उल्काएं कहलाते हैं। अंतरिक्ष में यह आतिशबाजी या उल्का वृष्टि जिस तारामंडल से निकलती प्रतीत होती है, उसी के नाम पर इसका नामकरण किया जाता है।

वैसे तो इस प्रकार की आतिशबाजी मनुष्य आदि-काल से ही देखता और अचंभित होता आया है परंतु इनमें से कुछ ही उल्का वृष्टियों का विवरण हमें प्राप्त है (तालिका-3)।

आज अंतरिक्ष के इन मनमौजी घुमक्कड़ों के विषय में आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों, अंतरिक्ष दूरबीनों (जैसे-हबल टेलीस्कोप) व अंतरिक्ष यानों (जैसे - गेलिलियो, वायजर) इत्यादि से कुछ जानकारी प्राप्त की जा रही है परंतु अभी भी बहुत जानने को शेष है। भविष्य की गर्त में क्या छिपा है कौन जाने ! क्या पता कभी कोई भूला भटका धूमकेतु पृथ्वी से टकराकर अपने साथ पृथ्वी का अस्तित्व भी समाप्त कर दे या फिर मानव इन्हें अपना गुलाम बना कर अपने हित में कार्य ले तथा उनका उपयोग अंतरिक्ष में एक हथियार के रूप में करे।

❑❑❑

लेखकों से निवेदन

"वैज्ञानिक" हेतु लेख भेजते समय कृपया निम्न बातें ध्यान में रखें :

- ❑ लेख का विषय नया हो जो पाठकों में अधिक ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा बढ़ाये,
- ❑ लेख मौलिक और पठनीय हो, भाषा सरल और बोधगम्य,
- ❑ कृपया अनुवादित लेख न भेजें,
- ❑ लेख टंकित किया हुआ अथवा स्पष्ट हस्तलिपि में दोनों ओर पर्याप्त हाशिया छोड़ कर काग़ज के एक ओर ही लिखें,
- ❑ विषय वस्तु समझाने के लिए यदि चित्र आवश्यक हों तो उन्हें अलग से सफेद काग़ज पर काली रोशनाई से खींच कर लेख के अंत में संलग्न कर दें,
- ❑ अस्वीकृत रचनाएं डाक-टिकट लगा लिफाफा संलग्न होने पर ही वापस की जायेंगी।

- संपादक

भावी अंतरिक्ष स्टेशन 'फ्रीडम'

श्रीमती गीता शुक्ला,
801, टैगोर रोड होस्टल, मिन्टो रोड,
नयी दिल्ली - 110 002.

अंतरिक्ष में यान भेजना मानव की सदा से चाह रही है। इसी के तहत रूस एवं अमरीका आदि ने कई अंतरिक्ष यान सफलतापूर्वक भेजे हैं। 'फ्रीडम' इस श्रृंखला का एक अभूतपूर्व भावी कदम होगा जिसे रूस, अमरीका, कनाडा, जापान आदि देशों के सहयोग से छोड़ा जायेगा। यह अंतरिक्ष में एक स्टे शन का काम करेगा। यह एक अंतरिक्षीय प्रयोगशाला होगी अथवा एक प्रेक्षणशाला, औद्योगिक इकाई या प्रमोचन प्लेट फॉर्म अथवा अंतरिक्ष में मंडराती एक इकाई होगी। हम इसे किसी भी नाम से क्यों न पुकारें यह मानव द्वारा अंतरिक्ष अभियान का एक बहुत बड़ा कदम होगा।

अब तक अंतरिक्ष में सात स्टेशन भेजे जा चुके हैं जिनमें एक अमरीकी था, बाकी 6 रूस के थे। इन सारे अंतरिक्ष स्टेशनों को भेजने का उद्देश्य एक ही था और वह था अंतरिक्ष अन्वेषण। अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम इसी श्रृंखला का एक महान कदम है। इस महान स्टेशन फ्रीडम को अमरीका अपने अन्य सहयोगियों जापान, कनाडा तथा योरपीय अंतरिक्ष संस्था के अनेक देशों के साथ मिलकर बना रहा है तथा इस सदी के अंत तक इसे अंतरिक्ष में पृथ्वी से 400 किमी. की दूरी की कक्षा में स्थापित कर दिया जायेगा। भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति जार्ज बुश के अनुसार अंतरिक्ष स्टेशन 'फ्रीडम' भावी अंतरिक्ष अन्वेषणों की आधार शिला है। 'फ्रीडम' में उन सभी विचारों का समावेश किया गया है जिन्हें तीन विभिन्न महाद्वीपों के रॉकेट विज्ञान के पितामह-ओबर्थ, सिवोल्कोवोस्की और गोडार्ड ने अपनी-अपनी संकल्पनाओं के रूप में प्रदान किया था। अंतरिक्ष उड़ान के सारे पहलुओं में सबसे मुश्किल पहलू है अपने ही ग्रह पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण खिंचाव से मुक्ति पाकर मुक्त अंतरिक्ष तक पहुंचना। इसी बात को ध्यान में रखते हुए पिछले कुछ दशकों से अंतरिक्ष स्टेशनों के विकास पर काफी जोर दिया गया। अंतरिक्ष यात्रा के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण समझा गया। 'फ्रीडम' अंतरिक्ष में मानव को एक दर्शक की हैसियत हटाकर एक सामान्य निवासी की भांति प्रस्तुत करने में सक्षम होगा। मानवीय दृष्टि से अंतरिक्ष अन्वेषण के विकास के लिए कई साल तक अंतरिक्ष में कार्य करने वाले अंतरिक्ष स्टेशन स्थायी कक्षीय प्रयोगशाला की भांति कार्य करेगा। लंबे अर्से तक अंतरिक्ष की क्षमताओं का मूल्यांकन इस अंतरिक्ष स्टेशन की एक विशिष्ट बात होगी।

ऐतिहासिक समीक्षा :

अमरीका में अंतरिक्ष स्टेशन के निर्माण के विषय में गंभीर चिंतन 1945 से प्रारंभ हुआ। पचास के दशक में कई वैज्ञानिक समुदायों के द्वारा अंतरिक्ष के बहुउद्देश्यीय उपयोगों के विषय में चिंतन प्रारंभ हुआ। अमरीका के इन अंतरिक्ष प्रयासों में वॉन ब्राउन अग्रगण्य थे। उन्होंने पृथ्वी की कक्षा में एक स्थायी अंतरिक्ष स्टेशन के स्थापन की संकल्पना की जिसके द्वारा वैज्ञानिक आर्थिक और जैविक उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके तथा जो चंद्रमा और मंगल ग्रह जाने के लिए बेस स्टेशन के रूप में कार्य कर सके। इस विषय में वृहत चिंतन प्रारंभ हुआ जिसके मुख्य मुद्दे थे – इस प्रकार की कक्षीय प्रयोगशाला का जीवनकाल कितना लंबा हो, इसके मुख्य उद्देश्यों में केवल मानव की जांच अथवा तकनीकी की जांच अथवा दोनों को शामिल किया जाय, इसमें कितने अंतरिक्ष यात्रियों के जाने का प्रावधान किया जाय, इसकी कक्षा की ऊंचाई तथा भूमध्य रेखा से इसका झुकाव कितना हो, इसे अंतरिक्ष में ही निर्मित किया जाय अथवा पहले इसका निर्माण पृथ्वी में किया जाय तथा फिर इसे अंतरिक्ष में

स्थापित किया जाय, इत्यादि ।

इसी बीच 1958 में अमरीकी अंतरिक्ष संस्था 'नासा' की स्थापना हुई तथा यह भी अंतरिक्ष स्टेशन पर चर्चा का केंद्र बन गया । 1960 में अंतरिक्ष स्टेशन पर विचार विमर्श के लिए लास एन्जेंलेस में एक गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें अंतरिक्ष स्टेशन के निर्माण के प्रति आम राय जाहिर की गयी लेकिन इसका स्वरूप कैसा हो, अंतरिक्ष में यह कहां स्थापित किया जाय तथा इसको कैसे बनाया जाय, जैसे मुद्दों पर मतभेद था । 1961 में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एफ. केनेडी ने निर्णय लिया कि अंतरिक्ष अन्वेषण की दृष्टि से चंद्रमा हमारा पहला लक्ष्य है । इस बात में आम सहमति पायी गयी कि अंतरिक्ष स्टेशन के निर्माण की अपेक्षा चंद्रमा की सतह पर मनुष्य का उतारा जाना ज्यादा आसान है । इनमें से कुछ लोग अंतरिक्ष स्टेशन के पक्ष में थे । इस मतभेद ने अंतरिक्ष स्टेशन को और अच्छी तरह परिभाषित करने में मदद की । इस तरह के प्रश्न भी उभर कर आये कि अंतरिक्ष स्टेशन क्या एक प्रयोगशाला होगी अथवा प्रेक्षणशाला या औद्योगिक इकाई, या प्रमोचन प्लेटफॉर्म या अंतरिक्ष में मंडराती इकाई होगी ।

जब अप्रैल 1981 में स्पेश शटल की पहली उड़ान हुई तो एक बार फिर अंतरिक्ष स्टेशन के विकास ने गंभीर रुख लिया ।

मई 1982 में अंतरिक्ष स्टेशन 'फ्रीडम' के लिए एक कार्यान्वयन समिति गठित की गयी, जिसने अंतरिक्ष स्टेशन से संबंधित सभी पहलुओं का अध्ययन करके जनवरी 1987 तक अंतरिक्ष स्टेशन के सारे पहलुओं को परिभाषित कर दिया ।

अंतर्राष्ट्रीय परियोजना :

अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम एक अंतर्राष्ट्रीय परियोजना है । इस परियोजना में अमरीका मुख्य भागीदार है । अन्य देश जो इस परियोजना में हिस्सा ले रहे हैं वे हैं – जापान, कनाडा तथा योरपीय अंतरिक्ष संस्था के 13 सदस्य देश । अमरीका अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम के लिए एक प्रयोगशाला माड्यूल तथा एक आवासीय माड्यूल का निर्माण कर रहा है । प्रयोगशाला माड्यूल दाबयुक्त माड्यूल होगा तथा इसमें पदार्थ विज्ञान, जीव विज्ञान तथा सामान्य विज्ञान के प्रयोग किये जायेंगे । इसका आकार 8.2 मीटर लंबा और 4.42 मीटर व्यास का होगा । अमरीका के द्वारा प्रदान किये जाने वाले आवासीय माड्यूल में फ्रीड्म' अंतरिक्ष स्टेशन में जाने वाले सभी अंतरिक्ष यात्रियों के रहने के लिए कमरे होंगे । इस आवासीय माड्यूल का पर्यावरण इस तरह का होगा जिससे कि अंतरिक्ष यात्री इसमें लंबे अर्से तक सामान्य रुप से रह सकें और सामान्य जीवन की सारी प्रक्रिया- खाना, सोना, आराम करना, सामान्य कार्य संपन्न कर सकें । इसका आकार और माप प्रयोगशाला माड्यूल से मिलती जुलती होगी । अंतरिक्ष यात्री इसके अंदर सामान्य कपड़ों में कार्य कर सकेंगे । इसमें श्रव्य और दृश्य उपकरण लगे होंगे । इसमें सोने, भोजन बनाने तथा सभी प्रकार की व्यक्तिगत सुविधाएं होंगी । इसकी गैलरी में रेफ्रीजरेटर, ओवेन, हाथ धोने का बेसिन तथा पानी के नल लगे होंगे । फौव्वारा लगा स्नानघर तथा मनोरंजन की भी सुविधाएं होंगी ।

कनाडा गतिशील अनुरक्षण तंत्र (मोबाइल सर्विसिंग सिस्टम) का निर्माण कर रहा है जिसके साथ एक मैनीपुलेटर भुजा होगी । इस तंत्र का उपयोग 'फ्रीडम' को अंतरिक्ष में स्थापित करने में किया प्रचालन गतिविधियों - चीजों और नीतभारों का स्थानांतरण तंत्रों को जोड़ने खोलने इत्यादि में मैनीपुलेटर भुजा की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होगी । 'फ्रीडम' का मोबाइल सर्विसिंग सिस्टम अमरीकी स्पेश शटल में प्रयुक्त 'कैन्डार्म' अथवा रोबोट भुजा से मिलता जुलता होगा ।

अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम के लिए जापान का योगदान होगा जापानी प्रायोगिक माड्यूल । यह माड्यूल एक बहुउद्देश्यीय प्रयोगशाला की भांति होगा जिसके अंदर एक दाब युक्त माड्यूल प्रायोगिक प्लेटफॉर्म तथा एक प्रायोगिक सुविधा माड्यूल होगा । दाबयुक्त माड्यूल 10 मीटर लंबा तथा 4.2 मीटर व्यास का होगा ।

योरपीय अंतरिक्ष संस्था और इसके सदस्य देश अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम के लिए एक प्रयोगशाला (जिसका नाम कोलंबस संयुक्त प्रयोगशाला है) कोलंबस मुक्त

उड़नशील प्रयोगशाला तथा कोलंबस ध्रुवीय प्लेटफॉर्म का निर्माण कर रहे हैं। यह सूर्य समकालिक कक्षा में स्थापित किया जायेगा। एक अन्य प्लेटफॉर्म अमरीका भी बना रहा है।

'फ्रीडम' स्टेशन का अंतरिक्ष में निर्माण :

इसके सारे माड्यूल प्लेटफॉर्म और अवयव 154 मीटर लंबी टॉवर के ढांचे के इर्द गिर्द लगाये जायेंगे। स्टेशन को अंतरिक्ष में कई चरणों में निर्मित किया जायेगा। पूरे निर्माण कार्य में लगभग 4 साल लगेंगे। चार बहुउद्देश्यीय माड्यूलों - दो अमरीकी, एक योरपीय और एक जापानी को लंबी टॉवर के बीच में लगाया जायेगा। जहां तक संभव होगा प्रत्येक अवयव की जांच पहले पृथ्वी पर कर ली जायेगी. उसके बाद उसे अंतरिक्ष में भेजा जायेगा।

अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम के प्रथम अवयव को अंतरिक्ष में लेकर जाने वाली स्पेश शटल की पहली उड़ान फ्लोरिडा में केनेडी स्पेश सेन्टर से 1996 के प्रारंभ में होगी। अंतरिक्ष में जोड़ने वाली ट्रसों, सौर पैनेलों का एक जोड़ा तथा कुछ आवश्यक इलेक्ट्रॉनिकी अवयवों को लेकर जायेगी। इन सबको जोड़कर एक अंतरिक्षयान का सृजन अंतरिक्ष में किया जायेगा। यह कार्य स्टेशन फ्रीडम की आधार शिला होगी। स्पेश शटल की इस उड़ान में उड़ान के दौरान ही अंतरिक्ष यात्री उपर्युक्त वर्णित ट्रसों को शटल के अंदर जोडना प्रारंभ कर देंगे तथा गंतव्य स्थान पर उन्हें मुक्त अंतरिक्ष में स्थापित कर देंगे। उसके बाद एक एक करके अंतरिक्ष स्टेशन के सारे अवयव अंतरिक्ष में ले जाकर मूल ढांचे के साथ जोड़ दिये जायेंगे। अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम के दो ध्रुवीय प्लेटफॉर्मों (एक अमरीका का तथा दूसरा योरपीय अंतरिक्ष संस्था का) में अमरीकी ध्रुवीय प्लेटफॉर्म को कैलीफोर्निया की वैन्डेनबर्ग पश्चिमी टेस्ट रेंज से तथा योरपीय अंतरिक्ष संस्था के ध्रुवीय प्लेटफॉर्म को फ्रेन्च गुइना के कोरू स्थान से अंतरिक्ष में भेजा जायेगा। ये दोनों प्लेटफॉर्म पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के ऊपर से गुजरते हुए पृथ्वी का चक्कर लगायेंगे।

अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम को अंतरिक्ष में निर्माण करने के लिए स्पेश शटल की रोबॉटिक भुजा तथा फ्रीडम स्टेशन के लिए कनाडा के द्वारा विशेष रूप से निर्मित मोबाइल सेवा तंत्र का प्रयोग किया जायेगा। यह मोबाइल सेवा तंत्र 'फ्रीडम' के 154 मीटर लंबे ट्रस ढ़ांचे के लगकर चलेगा और विभिन्न अवयवों का स्थापन करेगा। अमरीका के दो माड्यूलों को एक-एक करके अंतरिक्ष में लाया जायेगा। अंतरिक्ष में फ्रीडम स्टेशन के इतने भाग के निर्माण हो जाने के बाद अंतरिक्ष यात्री वहां स्थायी रूप से रहना प्रारंभ कर देंगे। उसके बाद जापानी प्रायोगिक माड्यूल लाया जायेगा। योरपीय अंतरिक्ष संस्था की स्थायी संयुक्त प्रयोगशाला बाद में पहुंचायी जायेगी। यह प्रयोगशाला योरपीय अंतरिक्ष संस्था की स्पेश लैब प्रयोगशाला से मिलती-जुलती है जिसकी अमरीकी स्पेश शटल की कई उड़ानों में अंतरिक्ष में भेजा गया था। फ्रीडम अंतरिक्ष स्टेशन के अंतरिक्ष यात्री विभिन्न माड्यूलों के अंदर दाबयुक्त सिलेन्डरों के द्वारा आ जा सकेंगे।

विद्युत ऊर्जा का जनन :

अंतरिक्ष स्टेशन के लिए विद्युत ऊर्जा सौर सेलों के पैनेलों से पैदा की जायेगी। ये सौर पैनेल स्टेशन के क्षैतिज बूम (जो ट्रसों को जोड़कर बनाया जायेगा) के दोनों छोरों पर लगाये जायेंगे। क्षैतिज बूम के प्रत्येक छोर पर इस प्रकार के चार पैनेल होंगे जो लगभग आधा एकड़ क्षेत्रफल में फैले होंगे। ये सौर सेल अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम की विद्युत ऊर्जा की आवश्यकता की पूर्ति करेंगे और साथ-साथ स्टेशन के बैटरी तंत्र को भी ऊर्जित (चार्ज) करते रहेंगे। इन बैटरियों में संचयित विद्युत ऊर्जा का प्रयोग उस समय किया जायेगा जब फ्रीडम स्टेशन पृथ्वी की छाया में आ जायेगा तथा इसमें लगे सौर सेलों को सूर्य का प्रकाश नहीं मिलेगा। बैटरी और सौर सेल अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम को 75 किवा. की विद्युत ऊर्जा प्रदान करेंगे। अब तक किसी भी अंतरिक्ष स्टेशन अथवा उपग्रह में इतनी विद्युत ऊर्जा कभी नहीं पैदा की जा सकी।

'फ्रीडम' का प्रयोग कैसे किया जायेगा ?

पिछले सात सालों में प्रयोगी संस्थाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए तथा विभिन्न वैज्ञानिक पैनेलों, आयोगों तथा प्रतिष्ठानों के सुझावों के आधार पर स्टेशन फ्रीडम के प्रारंभिक प्रयोग को निर्धारित कर लिया गया है। कार्यक्रम के उद्देश्यों को अंतिम रूप दे दिया गया है तथा परियोजनाओं को निश्चित किया जा रहा है। जिससे कि प्रत्येक क्षेत्र के अधिक से अधिक प्रयोगों को शामिल किया जा सके। ऐसी आशा है कि 2000 तक स्टेशन पूर्ण रूपेण अंतरिक्ष की कक्षा में स्थापित हो जायेगा। फ्रीडम के विशिष्ट पर्यावरण तथा क्षमताओं का वैज्ञानिक अनुसंधान तथा नयी तकनीकों के विकास के लिए प्रयोग में लाना तथा प्रयोगी संस्थाओं के द्वारा सौर तंत्र के मानवीय अन्वेषण में इसका उपयोग अमरीकी अंतरिक्ष संस्था नासा की योजनाएं हैं। इस अंतरिक्ष स्टेशन की प्रयोग की परियोजनाएं निम्न प्रकार से हैं -

(क) अंतरिक्ष पर्यावरण का व्यवसायिक कार्यों के लिए उपयोग

अपोलो, स्काईलैब और स्पेश शटल परियोजनाओं के दौरान अंतरिक्ष के विशिष्ट पर्यावरण में एक नये प्रकार के पदार्थों के निर्माण का अल्पकालीन अवसर प्राप्त हुआ तथा भविष्य के लिए इससे बड़ी उम्मीदें जगीं। इसी आशा से विश्व की अनेक व्यक्तिगत संस्थाएं अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम के मानवयुक्त बेस और प्लेटफॉर्मों को प्रयोग करके अनेक प्रकार के अंतरिक्ष अनुसंधान और विकास का कार्यक्रम बना रहे हैं। अंतरिक्ष की सूक्ष्म गुरुत्व परिस्थित में पदार्थों के गुणों में ऐसे-ऐसे परिवर्तन लाये जा सकते हैं जो पृथ्वी, में सर्वथा असंभव है। अंतरिक्ष पर्यावरण में ऐसे-ऐसे क्रिस्टलों का निर्माण संभव है कि वैसा सही आकार का बड़े आकार का क्रिस्टल पृथ्वी पर बनाया जाना लगभग असंभव है। अंतरिक्ष में बने क्रिस्टलों की शुद्धता बहुत ही उच्चकोटि की होती है। कुछ विशिष्ट उपयोगों के लिए कुछ विशेष प्रकार के पदार्थों का निर्माण अंतरिक्ष में बहुत अच्छे तरीके से संभव है जैसे प्रकाशिकी उपकरणों के लिए शुद्ध ग्लास जिसके अंदर वायु का एक भी बुलबुला न रह गया हो, क्षतिग्रस्त आंख के जोड़ने वाले तंतुओं के लिए विशेष प्रकार के रेशों का निर्माण, उच्च तापमान अवरोधक सिरेमिक जिसका उपयोग अनेक वैज्ञानिक परियोजनाओं में किया जाता है इत्यादि। इस प्रकार के इन सभी पदार्थों के निर्माण में मुख्य आधार है अंतरिक्ष का सूक्ष्म गुरुत्व का पर्यावरण।

फ्रीडम अंतरिक्ष स्टेशन के मानवयुक्त बेस और मुक्त उड़नशील प्लेटफॉर्म अनेक प्रकार के आंकड़ों / सूचना के भंडार को बढ़ायेंगे। अन्य प्रकार के व्यक्तिगत रूप से सहायता प्राप्त कार्यों में पृथ्वी का सुदूर संवेदन तथा संचार अनुसंधान कार्य और विकास शामिल हैं। औद्योगिक समुदाय स्टेशन को अंतरिक्ष औद्योगीकरण प्रक्रिया का सूत्रपात मानते हैं। दूसरे देश भी इसकी क्षमताओं को पूरी तरह से उपयोग करके इससे लाभांवित होना चाहते हैं। जापान, जर्मनी और फ्रान्स में सरकारी और औद्योगिक प्रतिष्ठान संयुक्त रूप से सूक्ष्म गुरुत्व अनुसंधान, तथा अन्य अंतरिक्ष अनुसंधान कार्यों जैसे पृथ्वी का सूदूर संवेदना पर बृहत परियोजनाएं तैयार कर रहे हैं। रूसी अंतरिक्ष यात्रियों ने मीर अंतरिक्ष स्टेशन में रहकर ऐसे-ऐसे अर्द्धचालक पदार्थों का निर्माण किया है जो लेसर, समाकलित परिपथ तथा कंमप्यूटर के क्षेत्र में बहुत उपयोगी हैं।

(ख) वैज्ञानिक प्रयोगों को संपन्न करना

अंतरिक्ष में फ्रीडम स्टेशन की स्थापना के बाद आठ सदस्यों का दल, जिसमें कमान्डर, प्रचालक, नीतभार विशेषज्ञ तथा मिशन वैज्ञानिक होंगे, हर समय उसमें मौजूद होगा। देश विदेश के ये सदस्य एक टीम के रूप में सप्ताह में 5 दिन तथा 9 घंटे प्रति पारी के हिसाब से कार्य करेंगे। मूल रूप से यह स्टेशन भौतिकी, रसायन शास्त्र और जीव विज्ञान के क्षेत्र में अनेक प्रकार के अनुसंधान कार्यों के लिए पृथ्वी के विचित्र पर्यावरण के मानीटरन के लिए तथा नयी तकनीकी के विकास के लिए बहुत उत्तम स्थान होगा। यहां लगे अनेक उपकरणों तथा पुनः प्रयोज्यी अंतरिक्ष यानों की मरम्मत के कार्य भी अंतरिक्ष में ही किये जायेंगे। बड़े-बड़े ढांचों को भी

अंतरिक्ष में ही बनाया जायेगा । इस प्रकार 'फ्रीडम' अंतरिक्ष में वह केंद्र होगा जहां से अंतरातारकीय अंतरिक्ष उड़ानों का श्री गणेश होगा ।

(ग) जीव विज्ञान और औषधि विज्ञान का क्षेत्र

'फ्रीडम' में जीव विज्ञान के क्षेत्र में जो सबसे बड़ा प्रयोग किया जायेगा वह है प्रोटीन अणु के मूल ढांचे का पता लगाना । प्रोटीन अणु मानव जीवन के लिए उत्तरदायी है । इसके लिए एक विशेष प्रकार की तकनीक 'क्रिस्टैलोग्राफी' का प्रयोग किया जायेगा । इस तकनीक से किसी चीज के तीन अक्षों में संरचनात्मक ढांचों का पता लगाया जा सकता है । इन बातों का ज्ञान जीवन रक्षक औषधियों के निर्माण में बड़ा उपयोगी होगा ।

अनुसंधानों के अन्य क्षेत्र धातु विज्ञान और मिश्र धातु विज्ञान से संबंधित होंगे ।

(घ) अंतरिक्ष से पृथ्वी का प्रेक्षण

आज इस बात के ठोस प्रमाण हैं कि मानवीय गतिविधियों के कारण पृथ्वी के वायुमंडल, समुद्र तथा भू सतह में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं । इन परिवर्तनों के दूरगामी परिणामों की गंभीरता को देखते हुए इनके लगातार मॉनीटरन की अत्यधिक आवश्यकता है । इसके लिए अन्तरिक्ष स्टेशन फ्रीडम बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है । इसके द्वारा उपर्युक्त परिवर्तनों के कारणों और परिणामों के विषय में आसानी से पता किया जा सकेगा । इन कार्यों के लिए 'फ्रीडम' के ध्रुवीय प्लेटफॉर्म काफी उपयोगी आंकड़े प्रदान करेंगे ।

(च) सौर तंत्र अनुसंधान

'फ्रीडम' सौर तंत्र के ऊपर अनेक अनुसंधान कार्यों को बढ़ावा देगा । कास्मिक किरणों के अध्ययन के लिए इसमें "कास्मिक डस्ट कलेक्टर" उपकरण लगे होंगे । इसके अलावा उच्च विभेदक "आस्ट्रोमेट्रिक टेलीस्कोप फैसिलिटी" तंत्र से ब्रह्मांड को और भी अधिक गहराई से देखा जाना संभव हो पायेगा ।

अंतरिक्ष में यात्रियों की सुरक्षा

अंतरिक्ष में यात्रियों की सुरक्षा की दृष्टि से 'फ्रीडम' में अनेक सुरक्षात्मक प्रबंध किये गये हैं । माड्यूल के अंदर आग लगने या धमाके की स्थिति में अथवा किसी उल्का या अंतरिक्ष मलबे से अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम के टकराने से अंतरिक्ष यात्रियों के लिए खतरा पैदा हो सकता है । इसके लिए 'अंतरिक्ष यात्री आपातकालीन वापसी यान' का प्रयोग किया जायेगा । एक प्रकार का अंतरिक्ष यान या माड्यूल होगा जो 'फ्रीडम' के मानवयुक्त बेस से हर समय जुड़ा रहेगा तथा आपातकालीन परिस्थिति में अंतरिक्ष यात्री इस यान में स्थानांतरित हो जायेंगे तथा यह पृथ्वी की ओर वापस चल पड़ेगा ।

अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम और भविष्य

'फ्रीडम' अंतरिक्ष में 2000 तक पूरी तरह से स्थापित हो जायेगा । इसके बाद इसे तीन विशाल क्षेत्रों में विकसित किया जायेगा । इनमें नये नये स्रोत, नयी प्रचालन क्षमताओं तथा नयी नयी तकनीकों का समावेश होगा । पूर्व नियोजित इन कार्यों में अंतरिक्ष स्टेशन में एक सौर सेल का अतिरिक्त रूप में लगाया जाना शामिल है जिससे इसकी विद्युत ऊर्जा जनन शक्ति और भी बढ़ जायेगी । स्टेशन की नयी प्रचालन क्षमताएं स्टेशन की प्रचालन सीमाओं और उसके तकनीकी गणकों में वृद्धि करेंगे जो कि इसके महत्व को बढ़ायेंगे । रोबोट तंत्र तथा उच्च कोटि के स्वचालन तंत्रों का समावेश भविष्य में करने की योजना है ।

चंद्रमा और मंगल ग्रह जाने की योजनाएं

'फ्रीडम' स्टेशन का अधिकाधिक विकास इसे इस योग्य बनायेगा कि चंद्रमा और मंगल ग्रह की उड़ान भरी जा सकें । इस प्रकार की उपलब्ध सुविधाएं मनुष्य को स्थायी रूप से अंतरिक्ष की कक्षा में रह पाने का अनुभव प्रदान करेंगी और शून्य गुरुत्व में रहने से संबंधित विभिन्न जैविक गणकों के अध्यापन का भी अवसर प्राप्त होगा । 'फ्रीडम' में जीव विज्ञान के क्षेत्र में प्रस्तावित प्रयोगों में सबसे बड़ा प्रयोग है ऐसी ऐसी तकनीकों का विकास जिससे कि भारहीनता के प्रभावों से निपटा जा सके । अंतरिक्ष के सूक्ष्म गुरुत्व माहौल में पौधों, जानवरों तथा जीवाणुओं के मूल व्यवहार और जैविक गुणों का लंबे अर्से तक अध्ययन भी इस स्टेशन में किये जाने वाले जैविक प्रयोगों में एक हैं । इस प्रकार अंतरिक्ष स्टेशन फ्रीडम भावी तकनीकों के विकास का मुख्य केंद्र बिंदु बनेगा ।

❑❑❑

विष तथा विषाक्तता*

डॉ. शिवगोपाल मिश्र एवं सुनील कुमार पाण्डेय
शीलाधर मृदा विज्ञान संस्थान,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विष वे पदार्थ हैं, जो श्लेष्मल झिल्ली, ऊतक या त्वचा पर सीधी क्रिया करके, अथवा परिसंचरण तंत्र में अवशोषित होकर घातक रूप से स्वास्थ्य को प्रभावित करने, या जीवन नष्ट करने में समर्थ होते हैं। इनकी अल्प मात्रा ही गंभीर क्षति उत्पन्न कर सकती है या मृत्यु का कारण बन सकती है। विभिन्न प्रकार के रोगों से मुक्ति दिलाने वाली दवाएं भी, यदि अधिक मात्रा में दी जाती हैं तो वे विषैली हो सकती हैं। यही नहीं, एक ही प्रकार के दवाओं का अलग-अलग व्यक्तियों में भी भिन्न-भिन्न परिणाम होता है और संवेदनशील व्यक्तियों में तो उचित समझे जाने वाली मात्रा में भी ये हानिकारक सिद्ध हो सकती हैं। प्रस्तुत लेख में विष एवं विषाक्तता के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की गयी है।

विष शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द टॉक्सिन का रूपांतर है, जिसकी उत्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्दों "टॉक्सोना" (धनुष) और "टॉक्सिकोन" (फर्मीकोन), तीर (जहर) से हुई है। जीव विष प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं तथा इसके अंतर्गत जीवाणु, पौधे अथवा जानवर ये सभी शामिल हैं। इनसे उत्पन्न होने वाले पदार्थ, जैसे -एकोमाइट, बोटुलिनस और मत्स्य विष ये सभी स्वभावत: विषैले होते हैं। इस प्रकार के विषों से संबंधित विज्ञान को "जीव विष विज्ञान" कहते हैं।

विषाक्तता कई रूपों में होती है तथा इसका वास्तविक अर्थ बता पाना दुष्कर है। कोई भी पदार्थ अलग-अलग जीवों में अलग-अलग प्रभाव छोड़ता है। इस आधार पर कि कोई पदार्थ कितना विषैला है, इसका निश्चय मात्रा एवं अनुक्रिया को लेकर खींचे गये वक्र या लेखाचित्र द्वारा किया जा सकता है। एक शक्तिशाली विष तीव्र ढाल वाला वक्र बनाता है। तात्पर्य यह है कि बहुत अल्पमात्रा का प्रभाव भी बहुत अधिक होता है। इसके विपरीत कम जहरीले पदार्थ हल्के ढाल वाला वक्र बनाते हैं। इस प्रकार से मात्रा और अनुक्रिया (रिसपॉन्स) को नापने के प्रयास एक अथवा दूसरी किस्म से प्राप्त आंकड़ों के द्वारा किये जाते हैं और इनके आधार पर ही किसी निष्कर्ष तक पहुंचा जाता है। पचास प्रतिशत मृत्युदर (LD_{50}) वाले क्षेत्र में अनुक्रिया सर्वाधिक होती है। तालिका-1 में विभिन्न तत्वों की पचास प्रतिशत घातक मात्रा दी गयी है। पचास प्रतिशत घातक मात्रा (LD_{50}) वह मात्रा है जो परीक्षित जानवरों के पचास प्रतिशत की मृत्यु का कारण बनती है। दुर्भाग्य से एक ही जाति के जानवरों पर विष का प्रभाव एक जैसा नहीं होता, चाहे समान गुणों वाले जानवरों का ही प्रयोग क्यों न किया जाय।

विषों के प्रभाव कई प्रकार से पारिभाषित किये जा सकते हैं – (I) वह मात्रा जो परिलक्षित प्रभाव नहीं दिखाते (कोई लक्षण न दिखाना, (II) वह मात्रा जो आंतरिक शारीरिक प्रभाव उत्पन्न करे (पेट में दर्द, जी मचलाना आदि), (III) वह मात्रा जो विषैला अथवा क्षति कारक प्रभाव उत्पन्न करे, तथा (IV) घातक मात्रा।

विष वैज्ञानिक यह मानते हैं कि उपर्युक्त चारों प्रभावों में विष की मात्रा एक चरण से दूसरे चरण में दस गुनी बढ़ जाती है। यह संकल्पना मार्फीन और सैलीसिलेट पदार्थों के लिए ही उपयुक्त है तथा इसे सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता। बहुत से पदार्थ ऐसे हैं, जो बतायी गयी मात्रा

**20-21 अप्रैल 1995 के दौरान 'ऊर्जा एवं पर्यावरण' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत वार्ता.*

तालिका-1

विभिन्न पदार्थों की तीव्र पचास प्रतिशत घातक मात्रा

पदार्थ	मात्रा (मिग्रा./किग्रा.)
ऐल्कोहॉल	10,000
सोडियम क्लोराइड	4,000
फेरस सल्फेट	1,500
एस्प्रिन	300
सल्फ्यूरिक अम्ल	100
डी. डी. टी. (कीटनाशी)	100
पैराक्वेट (खरपतवारनाशी)	50
एमाइलोबारबीटोन	25
लेड ऐसीटेट	15
कोकेन	5
आर्सेनिक ट्राइआक्साइड	2
सोडियम सायनाइड	2
पीला फॉस्फोरस	2
एट्रोपिन	2
निकोटिन	1
स्ट्राकिन सल्फेट	1
कोबरा विष (अंत:शिरा)	0.5
टेट्रॉडो टॉक्सिन (पफर मत्स्य विष)	0.1
टाइगर सर्पविष (अंत:शिरा)	0.05
एकोनाइट	0.05
रिकिन (अंत:शिरा)	0.005
डॉयोक्सिन	0.001
बोटुलिनस विष	0.0005
प्लूटोनियम - 239	0.0001

से भी कम में हानिकारक होते हैं, जैसे-सल्फॉनेमाइट औषधियाँ, ऐट्रोपिन तथा विशेषतया पेन्सिलीन जबकि डिजीटैलिस जैसी अन्य औषधियां अत्यधिक घातक होती है। तालिका-2 में कुछ विषैले पदार्थ और शरीर के अन्दर पहुंचने का माध्यम दिया गया है।

तालिका-2

कुछ अत्यधिक विषैले पदार्थ और प्रभावित जातियां

विष	माध्यम	जातियाँ
बोटुलिनस	मुख द्वारा	मनुष्य
पैलो	शिरा द्वारा	चूहा
टेट्राडो	शिरा द्वारा	चूहा
अल्फा	मुख द्वारा	बतख का बच्चा
सेरिन	शिरा द्वारा	चूहा

सामान्यत: विषों का वर्गीकरण पाँच प्रकार से किया जाता है : 1. उत्पत्ति, 2. रूप, 3. रासायनिक स्वभाव, 4. सक्रियता और 5. प्रयोग।

उत्पत्ति

(अ) पौधों व जानवरों से उत्पन्न होने वाले विष, (ब) औद्योगिक रसायन और खनिज विष, (स) दवाएं।

रूप

(अ) विकिरण : रेडियो सक्रिय पदार्थ, (ब) गैसें : कार्बन मोनो ऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड, (स) द्रव : विलायक, (द) ठोस : एस्बेट्स धातुएं।

रासायनिक स्वभाव

(अ) अम्ल : ऑक्सैलिक अम्ल, (ब) क्षार : लाई, अमोनिया, (स) ऐल्कोहॉल : एथिल, मेथिल, (द) ऐमीन, ऐनीलीन, (य) भारी धातुएं : पारा, लेड, कैडमियम, क्रोमियम (र) हाइड्रोकार्बन : मिट्टी का तेल, बेन्जीन, (ल) क्लोरीनीकृत हाइड्रोकार्बन : डी. डी. टी, डाइएल्ड्रन, कार्बन टेट्राक्लोराइड, पी.सी.बी. कार्बनिक फॉस्फेट, पैराथियान, मैलाथियान आदि।

सक्रियता

(अ) जलन कारक : अम्ल, क्षार और फिनॉल, उत्तेजक, (स) सर्वांगी विष : केंद्रीय तंत्रिका को उत्तेजित तथा शिथिल करने वाले पदार्थ। इसके अतिरिक्त इसमें माँसपेशी विष, उपापचयी विष और रक्त विष भी शामिल हैं।

प्रयोग

(अ) जीवनाशी अथवा आर्थिक विष : शाकनाशी, कृंतकनाशी, कीटनाशी, कवकनाशी, जीवाणुनाशी, धूम्रक (ब) रसोचिकित्सकीय कारक : प्रतिजैविक, परजीवनाशी आदि (स) मानवनाशी : प्राणदंड के लिए (सायनाइड), मानवहत्या के लिए (आर्सेनिक, स्ट्रिकनिन), आत्महत्या के लिए (बारबिट्यूरेट्स), युद्ध में प्रयोग की जाने वाले (कार्बनिक फॉस्फेट्स), (द) दंगा नियंत्रित करने वाले क्लोरोबेन्जाइलिडीन, मेलोनोनाइट्रिल, क्लोरेसीटोफिनोन, "आँसू गैस" ।

तीव्र और चिरकालिक विषाक्तता

तीव्र विषाक्तता में विष का प्रभाव तीव्रता से उत्पन्न होता है, परंतु यह मृत्यु का कारण नहीं बनता । इस प्रकार की विषाक्तता में अपेक्षाकृत विष की बड़ी मात्रा का प्रभाव होता है । इसके विपरीत चिरकालिक विषाक्तता में विष का प्रभाव धीरे-धीरे और छिपे रूप में होता है, और लक्षण मंद गति से प्रकट होते हैं तथा कमजोरी भी धीरे-धीरे बढ़ती जाती है । बीमारी एक या कई तरीकों से प्रकट हो सकती है, जैसे – चिरकालिक विषाक्कता का प्रभाव तंत्रिका तंत्र, रक्त और रक्त बनाने वाले ऊतक या पाचन नली में कुछ यौगिकों के द्वारा अधिक, कुछ के द्वारा कम और कुछ यौगिकों के द्वारा बिल्कुल ही नहीं होता है तथा इसके कारणों की पहचान कठिन होती है ।

तीव्र और चिरकालिक दोनों प्रकार के विषों में प्रभावी विष की मात्रा मुख्यता निम्नलिखित कारकों पर निर्भर करती है– (1) भौतिक रूप, जैसे-पदार्थ की ठोसीय, द्रवीय अथवा गैसीय अवस्था, (2) कुछ रासायनिक गुण विशेषकर तेल या जल में घुलनशीलता, (3) पदार्थ का रासायनिक स्वभाव, जैसे-हाइड्रोकार्बन, ऐल्कोहॉल या ऐमीन, (4) प्रभावित होने के रास्ते, जैसे-त्वचा, आँख, फेफड़ा, आहारनाल, शिराएं अथवा मांसपेशियां, (5) प्रभावित जातियां, (6) व्यक्तिगत गुण, जैसे– उम्र, लिंग, स्वास्थ, संवेदनशीलता, आनुवंशिकता, (7) जैविक अनुक्रिया, जैसे-स्थानीय या अंतर्शारीरिकीय सहनशीलता का विकास अथवा अन्य तत्वों के साथ अन्योन्य क्रिया ।

तीव्र विषाक्तता

बहुत सी दवाओं की विष क्षमता और कुछ व्यक्तियों के इनके प्रति संवेदनशील होने के कारण इनसे अनेक प्रकार की बीमारियों हो सकती हैं । प्रत्येक बीस रोगी व्यक्तियों में से कम से कम एक व्यक्ति दवा की विषाक्तता से प्रभावित होता है । कुछ अस्पतालों में बहुत से मरीज ऐल्कोहॉल की तीव्र विषाक्तता के कारण ही भर्ती किए जाते हैं ।

विषाक्तता आजकल नवयुवकों (18-25 वर्ष उम्र तक), स्त्री और पुरुष दोनों में ही पायी जाती है । विषाक्तता से प्रभावित बच्चों की संख्या (मुख्य रूप से 5 वर्ष से कम उम्र) दिनोंदिन बढ़ती जा रही है । बच्चों में होने वाली कुल विषाक्तता में से 60 प्रतिशत बच्चे दवा की विषाक्तता से ग्रसित होते हैं ।

आवश्यकता से अधिक मात्रा में ली जाने वाली उत्तेजना अथवा सम्मोहक दवाओं जैसे - एस्प्रिन और अन्य सेलिसिलेटों तथा सांस्कृति और सामाजिक कारणों से ली जाने वाली दवाओं, जैसे एथिल ऐल्कोहॉल, मारफीन आदि के कारण तीव्र विषाक्तता होती है। कार्बन मोनोक्साइड और अन्य गैसें लगभग विषाक्तता के 50 प्रतिशत मामलों लिए जिम्मेदार मानी गयी हैं ।

चिरकालिक विषाक्तता

इस तरह की विषाक्तता किसी के द्वारा बार-बार लंबे समय तक शारीरिक अंतर्ग्रहण किये जाने पर धीरे-धीरे उत्पन्न होती है । इसमें विषाक्तता के लक्षण प्रारंभ में प्रकट नहीं होते किंतु दीर्घ काल के बाद इनका एक साथ प्रभाव परिलक्षित होता है। अपवाद स्वरूप इस प्रकार की विषाक्तता दवा या पदार्थ की एक ही मात्रा लेने पर भी हो सकती है, जैसे रेडियोसक्रिय तत्व, कैंसर उत्पन्न करने वाले तत्व, भारी विषाक्त धातुएं आदि । कभी-कभी चिरकालिक प्रभाव देखने को तब मिलता है, जब विष की तीक्ष्ण मात्रा को कई बार में दिया जाता है । लेकिन ऐसा भी नहीं है कि विष के लगातार संपर्क में आने पर चिरकालिक विषाक्तता उत्पन्न हो ही जाय, जैसे कार्बनमोनोक्साइड के वातावरण में बार-बार प्रवेश करने पर भी कार्बनमोनोक्साइड शरीर में एकत्र नहीं होती

है। एक ही रोगकारक द्वारा चिरकालिक विषाक्तता के लक्षण तीव्र विषाक्कता से भिन्न हो सकते हैं तथा इसका सबसे अच्छा उदाहरण पारे की विषाक्तता है। इसके अंतर्ग्रहण से जी मचलना, उल्टी, दस्त, परिसंचरण तंत्र का रुकना अथवा कभी-कभी कुछ ही घंटों में मृत्यु हो जाना संभव है। जो लोग इसके प्रति सहनशील होते हैं, उनकी कुछ दिनों बाद गुर्दे के निष्क्रिय होने से मृत्यु हो सकती है। चिरकालिक पारे की विषाक्तता प्रवर्धनीय गुर्दे के रोग का कारण बनती है, लेकिन प्रभावित व्यक्ति में अन्य परिवर्तन भी हो सकते हैं, जैसे - उसके अंदर दुविधा की भावना, उनींदापन जैसी बीमारियां, तंत्रिका तंत्र से संबंधित रोग, माँसपेशियों की कमजोरी अथवा हृदय की असामान्यताएं।

शरीर द्वारा विषों का उपापचय

विष का दीर्घकालिक अथवा तीव्रता से उत्पन्न होने वाला प्रभाव विष के प्रकार, शरीर की उपापचयी स्थिरता या प्रभावित क्षेत्र पर निर्भर करती है।

पेट या गले में प्रविष्ट विषाक्त पदार्थ अवशोषित हो सकता है अथवा पाचक नली द्वारा पच सकता है। अघुलनशील पदार्थ शरीर के अंदर जाने के बाद अपरिवर्तित रहते हुए शरीर से बाहर निकल सकते हैं।

विष के निगलने, साँस के द्वारा अन्दर पहुँचने, त्वचा पर फैलने या शरीर के ऊतकों में सँचित होने की गति– जल या वसा में घुलनशीलता, उत्तेजनशीलता की प्रभावात्मकता, रासायनिक सक्रियता, विषीय अभिक्रिया और अन्य कारकों पर निर्भर करती है। रक्त में पहुंचने वाले पदार्थ अधिक या कम मात्रा में शरीर के अंगों में पहुंचते हैं। साँस के द्वारा अंदर पहुंचे पदार्थ, साँस के ही द्वारा बाहर भी निकाले जा सकते हैं। कुछ पदार्थ रक्त के घटकों से, विशेषकर प्रोटीन से, मजबूती से जुड़ सकते हैं और बाहर निकल सकते हैं।

अघुलनशील कण विशेष परेशानी उत्पन्न कर सकते हैं, यदि उनके गुण खतरनाक हों (जैसे- रेडियो सक्रिय पदार्थ) या वे बहुत कम मात्रा में शारीरिक ऊतकों से बाहर निकल पाते हों। जल में विलेय पदार्थ सामान्यतया मूत्र के द्वारा बाहर निकल जाते हैं, जैसे - पेनिसिलीन। (इसकी 50 प्रतिशत मात्रा लगभग 30 मिनट में उत्सर्जित हो जाती है) इसके विपरीत वसा में विलेय पदार्थ, जैसे– ऐल्कोहॉल काफी लंबे समय तक बना रहता है। यह शरीर में तब तक बना रहता है जब तक यह ऑक्सीकृत नहीं हो जाता।

शरीर में कुछ रासायनिक रक्षात्मक उपाय भी होते हैं। कोशिकाद्रव्य में कुछ ऐसी उपापचयी क्रियाएं होती हैं, जो ऑक्सीकरण, अवकरण, निर्जलीकरण आदि विधियों से बाहरी पदार्थ के अणुओं को और अधिक अघुलनशील बना देती हैं। इस प्रकार की रासायनिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न पदार्थ वसा में कम विलेय, जल में अधिक विलेय तथा मूल पदार्थ की अपेक्षा अम्लीय अथवा क्षारीय हो सकते हैं। इस प्रकार से ये नये उत्पाद शरीर में बहुत ही कम अवशोषित होते हैं तथा शीघ्रता से मूत्र के साथ बाहर निकल जाते हैं।

प्रायः शरीर के अंदर रसायनिक क्रियाओं से बने उत्पाद अपने मूल कणों की अपेक्षा अधिक विषैले होते हैं। इस विषय में फ्लोरोएसीटेट का परिवर्तन महत्वपूर्ण है, जो फ्लोरो - फ्लोरो-साइट्रेट में बदल जाता है, जबकि मूलकण विषाक्त नहीं होता। यह परिवर्तित फ्लोरो-साइट्रेट, एकोनिटेस नामक एन्जाइम (विकर) की अभिक्रिया को रोक देता है, जो कि ऊर्जा उत्पन्न करने की प्राविधि-साइट्रिक अम्ल चक्र का एक महत्वपूर्ण एन्जाइम है।

विषालु पदार्थ शरीर में कुछ घण्टे (जैसे-कार्बन आक्सीहीमोग्लोबिन के रूप में कार्बनमोनोक्साइड), कभी -कभी वर्षों तक (जैसे-सिल्वर त्वचा में, स्ट्रान्सियम-90 कंकाल में, यूरेनियम डाइऑक्साइड फेफड़ों में, डी. डी. टी. वसीय ऊतकों में) उपस्थित रह सकता है।

विष की क्रिया-विधि

यद्यपि अधिकतर विष शरीर के कई स्थानों पर एक साथ या एक क्रम में प्रभाव दिखाते हैं, फिर भी ऐसा नहीं है कि कोई विशेष अंग ही गंभीर बीमारी या मृत्यु के लिए उत्तरदायी हो। सायनाइड आधारीय ऊर्जा प्रदान करने वाली अभिक्रिया (साइटोक्रोम ऑक्सीडेज) को रोक देता है। बहुत से पदार्थ जो मात्रा से अधिक लिये जाते हैं, व

यकृत पर प्रभाव डालते हैं, जैसे - कार्बन टेट्राक्लोराइड, एमानिटा फ्लैवायड्स का विष और तत्वीय फास्फोरस। कार्बन टेट्राक्लोराइड, पारा तथा आर्सेनिक की तरह गुर्दे के ऊतकों को नष्ट करता है।

प्रिमाक्वीन तथा दूसरी दवाएं लाल रुधिर कोशिकाओं को तोड़ देती हैं, क्योंकि ग्लूकोज-6 फॉस्फेट डिहाइड्रोजिनेज एन्जाइम नामक आनुवांशिक अल्पता रक्ताल्पता का कारण बनती है। यह बाद में नलिकाओं को बंद करके गुर्दे के कार्य करने की क्षमता को नष्ट कर सकती है। कार्बन मोनोक्साइड सर्वप्रथम रक्त में पाये जाने वाले हीमोग्लोबिन के साथ जुड़कर कार्बाक्सीहीमोग्लोबिन का निर्माण करती है, और मस्तिष्क, हृदय, मांसपेशियों तथा अन्य कोशिकाओं के लिए वृहद मात्रा में आवश्यक ऑक्सीजन के प्रवाह को रोक देती है। जंगली प्याज हृदय को अत्यधिक उत्तेजित करके बुरी तरह से प्रभावित कर सकता है। कुछ पदार्थ जैसे - गैसोलिन या फ्लोरो-कार्बन प्रदाहक सांस द्वारा तत्काल मृत्यु, अन्य प्रकार की हृदय क्षति मांसपेशियों के सिकुड़ने में असामान्यता उत्पन्न कर सकते हैं, इससे हृदय रक्त प्रवाहित करने में असफल हो जाता है, जो अचानक मृत्यु का कारण बनता है। लेसार्जिक अम्ल डाइएथिल ऐमाइड (एल.एस.डी.), मारीजुआना, ऐल्कोहॉल आदि के प्रयोग से केंद्रीय तंत्रिका तंत्र को प्रभावित करता है, स्ट्रिकनिन, कार्बनिक फास्फेट या डाइएल्ड्रिन शारीरिक बिषाक्तता उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त मेथिल मर्करी या अधिक समय तक कार्बन डाइऑक्साइड के वातावरण में रहने पर मस्तिष्क के ऊतक नष्ट हो जाते हैं। रेडियम से निकलने वाले विकिरण कभी-कभी हड्डियों में कैंसर उत्पन्न कर देते हैं।

विभिन्न प्रकार के विषों द्वारा शारीरिक अंगों में अव्यवस्थापन के उत्पन्न होने अथवा उनके नष्ट होने से जीवन के रहस्यों को समझने में काफी सफलता मिल सकती है। स्ट्रिकनिन द्वारा मेरूरज्जु में उपस्थित तंत्रिका शाखाओं पर प्रभाव का पता उनके द्वारा ही चल पाया है। तंत्रिकीय हार्मोन (ऐसिटिल कोलीन) की खोज उस समय की गयी जब इसेरीन नामक विष द्वारा इसकी क्रिया को रोक दिया गया। अलग-अलग प्रकार के विष शारीरिक ऊतकों में अलग-अलग प्रकार डालते हैं। इनमें से कुछ तालिका-3 में दिये गये हैं।

एक जैसे अथवा विभिन्न यौगिकों के बीच होने वाली अन्योन्य क्रिया भी महत्वपूर्ण हो सकती है, जैसे - दो कार्बनिक फॉस्फेट अपने कीटनाशी प्रभाव में सहयोगी प्रभाव प्रदर्शित कर सकते हैं और इसी कारण से जब कई जीवनाशी एक साथ प्रयोग में लाये जा रहे हों तो भोजन पर इनकी अवशेषी मात्रा किसी व्यक्तिगत जीवनाशी को ध्यान में रखकर नहीं अपितु उस जीवनाशी के वर्ग के आधार पर निर्धारित की जाती है। एक विशेष प्रकार की अन्योन्य क्रिया को भी पहचाना गया है। कुछ जीवनाशी, जैसे - डी.डी.टी. और कुछ दवाएं यकृत की कोशिकाओं द्वारा एन्जाइम उत्पन्न करने की क्षमता को उत्तेजित कर देती हैं, जो बाहरी पदार्थों के अणुओं की विषाक्तता को कम करते हैं। यदि खाद्य पदार्थ में उपस्थित जीवनाशी की यह सूक्ष्म मात्रा इन यौगिकों को उत्तेजित नहीं कर पाती है, तो अन्य तरीकों, जैसे - जीवनाशियों के उत्पादन अथवा व्यवसायिक दृष्टि से संपर्क के कारण शरीर में पहुंचने पर इन एन्जाइमों को उत्तेजित कर सकती है।

मनुष्य के लिए महत्ता

बहुत से जैव विष मनुष्य को बुरी तरह से प्रभावित करने में पूर्णतया समर्थ होते हैं, जो रोग, दर्द या मृत्यु का कारण बनते हैं। इस प्रकार से विषाक्त जीव जन स्वास्थ्य की आर्थिक और सामाजिक रूप से गंभीर समस्याएं खड़ी कर देते हैं।

विष उत्पन्न करने वाले जानवर, दंश उत्पन्न करने वाले जानवर, त्वचा पर विष उत्पन्न करने वाले पौधे तीव्र दर्द और कभी-कभी प्रवेश अथवा संपर्क के द्वारा मृत्यु का कारण भी बनते हैं। इस प्रकार से ये विभिन्न प्रकार की पर्यावरणीय समस्याएं उत्पन्न करते हैं। जैव विष वाले पदार्थ मनुष्य के भोजन में शामिल होकर (जैसे - विष उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं का भोजन के साथ शरीर में प्रवेश, समुद्री जीव या उनका कोई उप-उत्पाद विष के रूप में भोजन के साथ) शरीर में पहुंचकर विषाक्तता उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ, उष्ण कटिबंधी द्वीप-

तालिका-3 : विभिन्न वैषिक क्रियाएं

स्थान	वैषिक प्रभाव की प्रकृति	विष के उदाहरण
कोशिका झिल्ली	नष्ट होना,	लाई, फिनॉल, ऊष्मा
	पारगम्यता में रुकावट	पारा, जंगली प्याज, कार्बन टेट्राक्लोराइड,
	निर्माण में रुकावट	हाइड्रोकार्बन संवेदनशील जीवाणुओं में पेन्सिलीन
रक्त	थक्का बनने से प्रवाह में रुकावट	कुछ रक्त विष
	फेफड़ों तक ऑक्सीजन पहुंचने में रुकावट	क्लोरीन, नाइट्रस ऑक्साइड, ओजोन
	ऑक्सीजन वहन में रुकावट	कार्बन मोनोक्साइड, नाइट्राइट
	थक्का बनने में रुकावट	वारफेरिन
तंत्रिका	न्यूरो हार्मोन रुकने से संवेदी संचार में रुकावट	कोकीन, बोटुलिनस विष
	एन्जाइम ग्राही तक एन्जाइम	स्ट्रिक्निन, एट्रोपिन, क्यूरेर,
	पहुंचने में अवरोध	कार्बनिक फॉस्फेट
कोशिका कार्यिकी	वृद्धि में रुकावट	कोल्चिसिन, मस्टर्ड नाइट्रोजन
	डी एन ए की संरचना या	नाइट्रोसेमीन, विकिरण, ऐक्टिनोमाइसिन डी
	कार्यिकी में अवरोध	फ्लोरोऐसीटेट
	ऊर्जा-पूर्ति चक्र में रुकावट	मेथोट्रेक्सेट
	प्रतिउपापचयी पदार्थ	

समूहों में किनारे पर रहने वाली अनेक मछलियां। इसके अलावा भोजन के लिए उपयुक्त मछलियां सिगुआ नामक जीव विष से संदूषित होती हैं। सिगुआ जीव विष एक प्रकार का तंत्रिका विष है, जो मछलियों में अनायास ही पहुंच जाता है और इस प्रकार की मछलियां मनुष्य तथा जानवरों के उपभोग के लिए उपयुक्त नहीं रह जाती हैं।

जैव विषों द्वारा उत्पन्न होने वाले प्रभाव अत्यंत तीव्र होते हैं और ये शीघ्र ही घातक बन जाते हैं। कुछ कवकों द्वारा उत्पन्न विष अथवा उच्च जाति के पौधों द्वारा उत्पन्न विष काफी लंबे समय बाद प्रभाव डालते हैं, अर्थात दीर्घकालिक प्रभाव डालते हैं। इनसे कभी-कभी कैंसर जैसी वृद्धि तथा अन्य अनुत्पादक परिवर्तन होने लगते हैं, जिनका निदान कभी-कभी कठिन होता है।

जैव विषों का वैज्ञानिक महत्व अभी भी ठीक से ज्ञात नहीं हो सका है। इसमें एक सर्वमान्य धारणा यह है कि जो भी हो, विष घातक होते हैं ही, इनकी विषाक्तता मृत्यु का कारण बन सकती है, इसलिए इनसे बचना चाहिए तथा इनके रासायनिक और चिकित्सकीय गुणों की जांच करनी चाहिए ताकि प्रतिविष बनाये जा सकें।

एक अन्य विचारधारा यह भी है कि इन विषों के जैविक रूप से सक्रिय तत्वों तथा उनकी रासायनिक संरचना का निर्धारण किया जाय, जिससे उनके भौतिक स्वभाव और जैविक गुणों से संबंधित जानकारी प्राप्त की जा सके। बहुत से जैव विषों के अध्ययन में यह देखा गया कि इनसे उपर्युक्त विचारधाराओं के अलावा कुछ विपरीत प्रभाव भी पड़ते हैं। इनमें से कुछ का उपयोग दवा के रूप में, कुछ का कवकनाशी, वृद्धि रोधक, प्रतिविषाणु, प्रतिजैविकी, प्रतिअर्बुदीकरण के रूप में, कुछ का लाल रक्त कणिकाओं को नष्ट होने से बचाने के लिए, दर्द नियंत्रक के रूप में, हृदय को नियंत्रित करने में तथा अन्य विविधि रूपों में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार विषाक्तता जैव विषों के चिकित्सकीय गुणों पर

काफी प्रकाश डालती है ।

प्राकृतिक चिकित्सा से संबंधित अनुसंधान के क्षेत्र में इस बात के भी अध्ययन किये जाते हैं कि प्राचीन समय में आदि मानव किस प्रकार प्राचीन पेड़-पौधों का उपयोग करता था । इसका अनुसंधान जैव विषों पर काफी प्रकाश डालता है । जैव विष ऐसे पदार्थ हैं जिनके बारे में बहुत कम जाना गया है या फिर वे बिल्कुल ही नये हैं । बहुत से उच्च किस्म के जैव विषों का प्रयोग तंत्रिका कार्यिकीय अनुसंधान में, विशेषकर तंत्रिका सक्रियता और मांसपेशियों के क्रिया के अध्ययन में सहायक हो सकते हैं ।

विष का उपचार

बहुत अधिक विषाक्तता में सर्वाधिक प्रथमिकता हृदय की धड़कन या सांस को बनाये रखने में होती है । कुछ मामलों में फेफड़े से संबंधित झटकों में रोगी को वायायन की जरूरत होती है । यदि रोगी तीव्रता से प्रभाव उत्पन्न करने वालसे बारबिट्यूरेट से प्रभावित है या मूर्च्छित है, तो उसे हाइपोथर्मिया हो सकता है, जिसमें शरीर का तापमान 95 " फारेनहाइट से भी कम हो जाता है । इसके सामान्य उपचार में छिद्रदार कंबल का प्रयोग किया जाता है । ऐंठन से संबंधित रोगोपचार में डाइजीपाम या वेलियम का प्रयोग किया जा सकता है ।

एक चिकित्सक द्वारा विष से प्रभावित व्यक्ति का इलाज व्यक्ति और संबंधित पदार्थों के आधार पर किया जाता है । यदि विष अंगों के लिए क्षतिकारक नहीं है, तो उसका वमन कराया जा सकता है । जठर में स्थित अंतर्वस्तु को यह बाहर निकालने का सबसे सरल उपाय है । वमन का प्रयोग तभी करना चाहिए जब रोगी चिकित्सक को सहयोग देने की स्थिति में हो । निद्रालु या अचेतन रोगी को वमन नहीं कराना चाहिए क्योंकि उसके आमाशय की अंतर्वस्तु के तरलापनयन का भय रहता है ।

वमन कराने के लिए गले में अगुली या अन्य वस्तु का प्रयोग करना चाहिए या निम्नलिखित पदार्थों में से कोई एक खिलाना चाहिए - चूर्णित सरसों, नमक या प्रबल साबुन जल, ऐपोमॉरफीम हाइड्रोक्लोराइड आदि ।

यद्यपि वमन का तरीका बच्चों में काफी लाभदायक होता है, परंतु वयस्कों के लिए जठरीय लेवेज,– एक आमाशयी पंप की जरूरत होती है । एक लंबी, पतली नली, गले के रास्ते से आमाशय में पहुंचाकर उसमें गरम पानी प्रवाहित किया जाता है और फिर इसे बाहर निकाल लिया जाता है और यह क्रिया उस समय तक चलती रहती है, जब तक कि अंदर से निकलने वाला पानी स्वच्छ न हो जाय ।

दवा की मात्रा अधिक होने पर चिकित्सक जठरीय लेवेज के स्थान पर उत्प्रेरित चारकोल का प्रयोग करता है । प्रभावी होने के लिए चारकोल और दवा की मात्रा का अनुपात 10:1 का होना चाहिए । विशेषकर यह मात्रा 1.7 से 3.5 औंस 5-100 ग्राम) के परास में हो सकती है, जिसे पानी के साथ गाढ़ा धोल बनाकर नासिका आमाशयी नली के द्वारा अंदर पहुंचाया जा सकता है । बारबिट् यूरेट विषाक्तता के मामले में 0.7 से 2 औंस 20-60 ग्राम) की मात्रा प्रत्येक 4-12 घंटे बाद दी जा सकती है ।

विषाक्तता के लिए उपचार का एक प्रमुख तरीका प्रतिविषों का उपयोग है । विस्तृत रूप से सभी प्रतिविष, विषों की प्रभावात्मकता को कम करते हैं । बहुत से प्रतिविष, विष के साथ मिलकर अक्रिय यौगिकों का निर्माण करते हैं । उदाहरण के लिए सायनाइड विषाक्तता का उपचार डाइकोबाल्ट इडीटेट के द्वारा की जा सकती है ।

कुछ विष शरीर के विशिष्ट ग्राही स्थानों से अन्योन्य क्रिया करते हैं । कार्बन मोनोक्साइड विषाक्तता के विरुद्ध ऑक्सीजन एक प्रतिविष का कार्य प्रतियोगी के रूप में कर सकता है । कुछ कार्बनिक फॉस्फोरस युक्त जीवनाशियों की विषाक्तता के विरुद्ध एट्रोपिन प्रतिविष का प्रयोग किया जा सकता है, जो कोलीन एस्टरेज एन्जाइम के ग्राही स्थान को विषाक्त होने से रोकता है ।

बहुत से विषों के लिए उसी परिवार का कोई दूसरा पदार्थ भी उपचार के लिए उपयोग में लायां जा सकता है, जैसे - ब्रोमाइड और आयोडाइड की विषाक्तता में क्लोराइड का प्रयोग हो सकता है ।

स्पष्ट है कि विष प्राणि जगत के लिए घातक होते हैं। वे विभिन्न प्रकार की पर्यावरणीय समस्या भी उत्पन्न करते हैं। विभिन्न प्रकार के जीवनाशी, खरपतवारनाशी, कीटनाशी आदि विष ही हैं, जिनका प्रयोग फसल सुरक्षा में व्यापक रुप से किया जा रहा है। मानव समुदाय विष से परिचित तो है, परंतु इसके दुष्परिणामों को अनदेखा कर रहा है। आज नवयुवकों में विभिन्न प्रकार के विषाक्त पदार्थों को लेने की होड़ सी लगी हुई है और यह समस्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है।

कुछ जीवों तथा वनस्पतियों में भी विषाक्तता पायी जाती है, परंतु इसके द्वारा वे आत्मरक्षा का कार्य करते हैं। जाने-अनजाने में जब कभी हम ऐसे जीवों का या विषाक्त पदार्थों का प्रयोग कर लेते हैं, तो हमको विशेष प्रकार की परेशानी होने लगती है। अतएव ऐसे विषाक्त पदार्थों या जीवों से दूर रहना ही श्रेयष्कर है।

हमारे देश के अधिकांश कृषक, जो कि अप्रशिक्षित हैं, सही ढंग से विषों का प्रयोग नहीं करते, जिससे वे उनके शिकार होते रहते हैं। अतएव उनक प्रयोग से संबंधित विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाने की आवश्यकता है, जिससे कि जनसामान्य विष का प्रयोग सही ढंग से कर सकें।

❐❐❐

उदर गैस : कारण, लक्षण एवं उपचार

(पृष्ठ - 13 का शेषांश)

- मात्र गर्म पानी में नीबू का रस मिलाकर पीना।
- फलों का रस-संतरा, मौसम्बी या अंगूर का रस शुध्द शहद के साथ मिलाकर पीना भी लाभदायक होता है।
- मट्ठा एवं दही का सेवन करना।
- प्राकृतिक रूप से मल निष्कासन भी लाभदायक होता है।
- पेट को गर्म पानी से सेंकने के पश्चात् कटि स्नान।
- पेडू पर लोटा भर ठंडा पानी डालने से आंतों में जमी गैस बाहर निकल जाती है।
- लेपट विधि से भी गैस बाहर निकलती है।
- पोस्ता, नारियल एवं मिश्री को बराबर मात्रा में प्रतिदिन एक चम्मच सुबह-शाम लेने से लाभ मिलता है।
- मेथी को भूनकर उसका चूर्ण बनाकर एक-एक चम्मच सेवन करना लाभदायक होता है।
- अजवायन के तेल में काला नमक चुटकी भर मिलाकर लेना लाभदायक होता है।
- चुटकी भर काली मिर्च का चूर्ण फांककर आधा कागजी नींबू का रस सेवन करना लाभकर होता है।
- चार चम्मच गर्म पानी में पांच-दस बूंद अजवायन का तेल मिलाकर सेवन करना लाभदायक होता है।
- जीरा, लौंग एवं अजवायन बराबर मात्रा में तवे पर भूनकर चूर्ण बना लेना चाहिए। उसमें आधा चम्मच पिसा काला नमक मिलाकर आधा कप गुनगुने पानी के साथ लेना लाभदायक होता है।
- गैस की तकलीफ दूर करने में उत्थान-पादासन, हलासन, धनुष आसन, भुजंगासन, चक्रासन, मयूरासन एवं सूर्य नमस्कार आदि आसन करना भी लाभदायक होता है।

इस प्रकार यदि हम थोड़ी सी सावधानी बरतें एवं अपने आहार विहार को ठीक रखें तो निश्चित ही गैस की तकलीफ से बचा जा सकता है।

❐❐❐

शोध पत्र :

रंगीन अपशिष्ट जल शोधन में वृहत कवक का संभाव्य उपयोग*

अतुल के. मित्तल एवं एस. के. गुप्ता
पर्यावरणीय विज्ञान एवं अभियांत्रिकी केंद्र,
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मुंबई - 400 076

जैव अधिशोषण वैज्ञानिक शोध का एक नवीन क्षेत्र है। यदि मृत कोशिकाओं को जैव अधिशोषण का आधार बनाकर, रंगीन अपशिष्ट जल का शोधन किया जाये तो सक्रियित कार्बन के प्रयोग से उत्पन्न आर्थिक सीमाओं से न केवल पार पा सकते हैं बल्कि जैव तकनीकी का पर्यावरण प्रबंधन में एक नया अनुप्रयोजन आरंभ हो सकता है। तथापि इस महत्वपूर्ण क्षेत्र के विस्तीर्ण अन्वेषण के लिए समायोजित प्रयत्नों की आवश्यकता है जिससे प्राकृतिक रुप में मिलने वाली जैव पदार्थों की अनन्य प्रजातियों के तकनीकी एवं आर्थिक लाभों को पूर्णतया स्थापित किया जा सके। इस शोध पत्र में रंगीन अपशिष्ट जल के शोधन में वृहत कवक के उपयोग की संभावना का उल्लेख किया गया है।

रंग बनाने वाले कारखानों के रंगीन अपशिष्ट जल का विरंजीकरण एवं विसर्जन पर्यावरण प्रबंधकों के लिए एक चुनौती है। रंगीन अपशिष्ट जल के प्रबंधन को अभी तक वांछित महत्व नहीं मिला है क्योंकि, इस जल विसर्जन को अधिकतर सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण से देखा गया है। लेकिन पर्यावरण विषविज्ञान के क्षेत्र में प्रगति के साथ-साथ यह प्रत्यक्ष हो गया है कि बहुत से रंजक कैन्सरजनी तथा उत्परिवर्तजनिक हैं तथा पर्यावरण के लिए विनाशकारी हैं।

रंगीन अपशिष्ट जल के प्रबंधन के लिए विभिन्न प्रक्रियाएं जैसे रासायनिक, जैविक, भौतिक - रासायनिक, प्रतिलोम परासरण आदि का प्रयोग किया गया है। परंपरागत रुप से लौह, एल्यूमिनियम एवं मैगनीशियम लवणों के साथ स्कंदन एवं ऊर्णन की प्रकियाएं रंजक धारी जल शोधन के प्रयोग में आती रही हैं। लेकिन इन प्रकियाओं की कई सीमाएं हैं। जैसे स्कंदन एवं ऊर्णन प्रकिया द्वारा रंजक धारी अवसाद का निर्माण एवं निम्न गुणवत्ता का बहिःस्राव, प्रतिलोम परासरण की आर्थिक एवं तकनीकी सीमाएं, जैविक प्रक्रियाओं की अनुप्रयोज्यता में संदिग्धता तथा इन प्रक्रियाओं का अभी तक दोलित फ्लास्क स्तर से ऊपर न उठना जैसे कारणों की वजह से सक्रियित कार्बन - अधिशोषण एक आकर्षक विकल्प है। लेकिन सक्रियित कार्बन की निषेधी लागत ने इस विकल्प को प्रगतिशील देशों में निषेधात्मक कर दिया है। विभिन्न शोधकर्ताओं ने विभिन्न प्रकार के पदार्थों जैसे कोयला, राख, लकड़ी का बुरादा, गन्ने की छाल आदि का सक्रियित कार्बन के विकल्प के रुप में उपयोग करने का प्रयास किया है।

जैव अधिशोषण वैज्ञानिक शोध का एक नवीन क्षेत्र है। यदि मृत कोशिकाओं को जैव अधिशोषण का आधार बनाकर, रंगीन अपशिष्ट जल का शोधन किया जाये तो सक्रियित कार्बन के प्रयोग से उत्पन्न आर्थिक सीमाओं से

**20-21 अप्रैल, 1995 के दौरान 'ऊर्जा एवं पर्यावरण' विषय पर आयोजित वार्ता में प्रस्तुत शोध पत्र.*

न केवल पार पा सकते हैं बल्कि जैव तकनीकी का पर्यावरण प्रबंधन में एक नया अनुप्रयोजन आरंभ हो सकता है। तथापि इस महत्वपूर्ण क्षेत्र के विस्तीर्ण अन्वेषण के लिए समायोजित प्रयत्नों की आवश्यकता है जिससे प्राकृतिक रूप से मिलने वाले जैव पदार्थों की अनन्य प्रजातियों के तकनीकी एवं आर्थिक लाभों को पूर्णतया स्थापित किया जा सके ।

इस शोध पत्र के माध्यम से यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि रंगीन अपशिष्ट जल के शोधन में वृहत कवक का सम्यक उपयोग किया जा सकता है। इस अध्ययन में विभिन्न धनावेशित रंजकों को 'फोमिटोपसिस कार्निया' नामक वृहत कवक द्वारा अधिशोषित किया गया है ।

प्रायोगिक :

अधिशोषण प्रक्रिया के परीक्षण बैचों में किये गये हैं । विभिन्न रंजकों के जल में विलयन बनाये गये तथा रंजकों की सांद्रता को स्पेक्ट्रमप्रकाशमापी की सहायता से निर्धारित किया गया ।

वृहत कवक कुकरमुत्ता को केरल के जंगलों से इकट्ठा किया गया तथा सूर्य के प्रकाश में सुखाया गया तथा सूखे हुए वृहत कवकों को कूट-पीसकर औसत 400 μm के कणाकार में छाना गया । इस 400 μm के औसत कणाकार के पाउडर का सभी परीक्षणों के लिए उपयोग में लाया गया ।

इन परीक्षणों में जैव अधिशोषण की तरह प्रयोग में लाये गये कुकरमुत्ता का टैक्सोनॉमीकल (Taxonomical) वर्गीकरण इस प्रकार हैं :-

भाग	:	मायकोटा
वर्ग	:	बैसिडोमाइसिटस
गण	:	पोलीपोरलस
परिवार	:	पोलीपोरसिल
वंश	:	फोमिटोपसिस
प्रजाति	:	कार्निया

तालिका-1 : विभिन्न रंजकों का फोमिटोपसिस कार्निया द्वारा निष्कासन

रंजक (ओरलामर) -	तरंग दैर्ध्य (नैनो मी.)	पीएच	निष्कासन (%)
- यलो 4 जी	412.0	5.38	80.0
- यलो 8 जीएल	412.8	5.58	89.5
- पिंक एक जी	422.3	5.38	94.3
- रेड बी जी	547.6	5.37	97.3
- रेड जीटीएल	486.2	5.57	90.0
- औरेंज जी	483.8	5.59	95.3
- औरेंज आर	491.6	5.56	97.2
- ब्लू जी	629.4	5.50	96.9
- ब्लू जीआरएल	608.2	5.88	89.0
- यलो ब्राउन सीजीएल	443.6	4.63	91.0

सन्निग्धकाल 48 घंटे ; रंजक की सांद्रता - 50 मि. ग्रा. / ली.; अधिशोषक - 0.25 ग्रा. / ली.

वर्ण अधिशोषण परीक्षण :

इन परीक्षणों के लिए 10 विभिन्न प्रकार के धनावेशित रंजकों को प्रयोग में लाया गया । सभी रंजकों के 50 मिलीग्राम प्रति लीटर की सांद्रता के विलयन बनाये गये तथा सभी विलयनों की 50 मिली लीटर मात्रा को 250 मिली लीटर क्षमता की बोतलों में लेकर उसमें 0.25 ग्राम प्रति लीटर की समान दर से अधिशोषक को मिलाया गया । अब इस क्रिया मिश्रण को 48 घंटों के उपरांत अधिशोषक पाउडर से अलग किया गया तथा बचे हुए रंजक की मात्रा को ज्ञात किया गया ।

पीएच का प्रभाव : ओरलामर रेड बी जी ओरेबीजी धनावेशित रंजक के अधिशोषण पर पीएच के प्रभाव का अध्ययन किया गया । इन परीक्षणों के लिए ओरेबीजी के विलयन की पीएच सोडियम हाइड्रोक्साइड या सलफ्यूरिक अम्ल से बदली गयी । अब विभिन्न पीएच

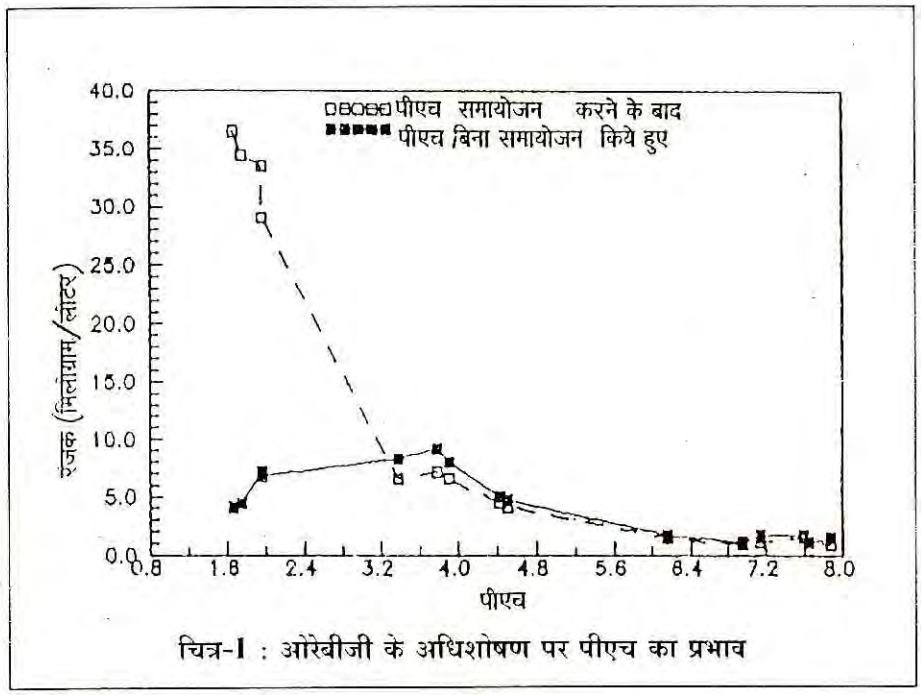

चित्र-1 : ओरेबीजी के अधिशोषण पर पीएच का प्रभाव

वाले ओरेबीजी के विलयनों में अधिशोषक की समान मात्रा मिलायी गयी तथा इस सम्मिश्रण को 48 घंटों के लिए संपर्क में रखा गया । इसके बाद, अधिशोषक को छानकर अलग किया गया तथा बचे हुए रंजक की सांद्रता ज्ञात की गयी ।

परिणाम :

तालिका-1 में विभिन्न रंजकों का प्रतिशत निष्कासन दर्शाया गया है । इस तालिका से यह प्रत्यक्ष है कि प्रयोग में लाये गये सभी रंजकों का अधिशोषण संभव है तथा यह 80 से 97.2 प्रतिशत के मध्य में रहता हैं। ओरेबीजी रंजक का अधिशोषण अधिकतम पाया गया तथा इसको पीएच प्रभाव के अध्ययन के लिए चुना गया ।

चित्र-1 में ओरेबीजी रंजक के अधिशोषण पर पीएच के प्रभाव को चित्रित किया गया है । पीएच को 1.7 से 7.8 तक बदला गया तथा यह देखा गया कि ओरेबीजी रंजक का अधिशोषण पीएच के कम करने से लगातार कम होता जाता है तथा उच्च पीएच पर अधिकतम अधिशोषण होता है। अगर अधिशोषक के पृष्ठ को पीएच तथा आवेश के संदर्भ में देखा जाये तो इस परिणाम पर प्रकाश डाला जा सकता है । निम्न पीएच पर हाइड्रोजन आयनों की अधिकता के कारण अधिशोषण का पृष्ठ धनावेशित हो जाता है लेकिन चूंकि रंजक भी विलयन में धनावेशित है अतः रंजक तथा अधिशोषक के बीच में वैद्युत प्रतिकर्षण होता है जिससे अधिशोषण की मात्रा, पीएच कम होने के साथ घटती जाती है ।

इस अध्ययन से निम्न निष्कर्षों पर पहुंचा जा सकता है ।

1. पोमिटोपसिस कार्निया को धनावेशित रंजकों के अधिशोषण के लिए सफलतापूर्वक प्रयोग में लाया जा सकता है ।
2. पीएच को कम करने के साथ रंजक का अधिशोषण कम होता जाता है ।

❐❐❐

अखिल भारतीय हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता (1994) में प्रोत्साहन पुरस्कार प्राप्त

स्थायी चुंबकीय पदार्थ : आधुनिक विकास

महेंद्रकर हनमन्त राव, रघु माथुर एवं दिलशाद अख्तर

रक्षा धातुकर्मीय अनुसंधान प्रयोगशाला,
कन्चनबाग डाक घर, हैदराबाद - 500 258.

कम आयतन में अधिक चुंबकीय ऊर्जा देने वाले एवं विचुंबकन के प्रति अधिक स्थायी दुर्लभ मृदा चुंबकीय मिश्र धातु आज अत्यंत महत्वपूर्ण चुंबकीय पदार्थों की श्रेणी में आते हैं। इन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है : (1) साठ के दशक के समेरियम-कोबाल्ट मिश्र धातु $SmCo_5$, Sm_2Co_{17} एवं (2) 1984 में खोजे गये अधिक ऊर्जा, पर कम ताप योग्य नियोडाइमियम-लौह-बोरॉन $Nd_2Fe_{14}B_1$। इन पदार्थों की व्यापारिक सफलता से प्रेरित हो कर अनुसंधान कार्यों के परिणामस्वरूप कई अन्य मिश्र धातुएं विकसित की गयी हैं जिनमें व्यापारिक संभावनाएं 1990 में खोजे गये समेरियम-लौह-नाइट्रोजन Sm_2Fe_{17} से है। इस लेख में स्थायी चुंबकों के अभिलक्षण निर्धारण और इन दुर्लभ मृदा आधारित चुंबकीय पदार्थों के प्रक्रमण का विवरण दिया गया है।

स्थायी चुंबकीय पदार्थों के ऊर्जा रूपांतरण क्षेत्र में योगदान से जहां सभी परिचित हैं, कई अन्य क्षेत्र यथा चिकित्सा, अयस्क निक्षेपण, सूचना तकनीकी आदि में इनका प्रयोग दिन-प्रति-दिन बढ़ रहा है। संप्रति बेरियम/स्ट्रान्शियम के लौह ऑक्साइड जिन्हें फेराइट के नाम से जाना जाता है, कम मूल्य के कारण सर्वाधिक उपयोगी स्थायी चुंबक हैं, पर इनकी प्रति आयतन संचित ऊर्जा काफी कम है। बढ़ती हुई लघुकरण की मांग एवं उच्च तकनीकी क्षेत्र यथा वायु आकाश में भार कम करने के उद्देश्य से अधिक शक्तिशाली पदार्थों की आवश्यकता को पूरा करने में अक्षम रहे हैं। धीरे धीरे फेराइट का स्थान दुर्लभ मृदा आधारित मिश्र धातु लेते जा रहे हैं जो कि न केवल कम आयतन में अधिक चुंबकीय ऊर्जा दे सकते हैं, बल्कि विचुंबकन के प्रति अधिक स्थायी भी हैं।

चुंबकीय गुण :

प्रयोग के आधार पर चुंबकीय पदार्थों को दो भागों मे बांटा जाता है :-

(1) मृदुल चुंबक : ऐसे पदार्थ किसी अन्य चुंबक के चुंबकीय क्षेत्र में शीघ्र प्रेरित हो जाते हैं, पर बाह्य चुंबकीय क्षेत्र के हटने पर अपना चुंबकत्व खो देते हैं। ये पदार्थ इस कारण अस्थायी चुंबकीय प्रयोगों यथा विद्युत चुंबकीय प्रयोगों के लिए उपयुक्त हैं।

(2) कठोर चुंबक : इन चुंबकीय पदार्थों का प्रेरित करने के लिए काफी अधिक बाह्य चुंबकीय बल की आवश्यकता होती है, परंतु बाह्य बल के हटने पर ये तुरंत विचुंबकित नहीं होते, एवं स्थायी चुंबकत्व प्राप्त कर लेते हैं।

दोनों ही प्रकार के पदार्थों के अभिलक्षणों का प्रायोगिक अवलोकन शैथिल्य पाश (Hysterisis Loop) द्वारा निरूपित किया जाता है। मृदुल एवं कठोर चुंबकीय पदार्थों के प्रारूपी शैथिल्य पाश चित्र -1 में दर्शित हैं।

चित्र-1 में प्रदर्शित किसी पदार्थ के शैथिल्य पाश निर्धारण हेतु पदार्थ को चुंबकीय शून्य क्षेत्र में रख कर धीरे-धीरे किसी एक दिशा में (जो चित्र में धनात्मक दिशा से दर्शित है) चुंबकीय क्षेत्र बढ़ाया जाता है, जब तक कि पदार्थ की चुंबकीय तीव्रता M संतृप्त बिंदु M_s तक नहीं पहुंचती। तत्पश्चात् लगाये गये बाह्य क्षेत्र को धीरे धीरे पुनः शून्य किया जाता है, इस शेष तीव्रता को

तालिका-1 : कमरे के ताप पर विभिन्न पदार्थों के चुंबकीय गुणों की तुलना

पदार्थ	सूत्र	क्यूरी ताप (^{0}सें.)	चुंबकीय संतृप्तता $\mu_0 M_s$ (टेस्ला)	क्रिस्टलीय विषमदैशिकता $\mu_0 H_A$ (टेस्ला)	सैद्धांतिक ऊर्जागुणन $(BH)_{max}$ कि जू /घ मी
अल्निको	Fe-7A1-15Ni-35Co-4Cu-5Ti	860	1.0	---	200*
स्ट्रान्शियम फेराइट	$SrO(Fe_2O_3)_6$	450	0.48	1.8	46
समेरियम कोबाल्ट	$SmCo_5$	720	1.1	22.0	240
नियोडाइमियम लोह-बौरान	$Nd_2Fe_{14}B$	310	1.6	8.0	500
समेरियम-लोह-नाइट्रोजन	$Sm_2Fe_{17}N_3$	470	1.58	10.5	498

**इन पदार्थों में क्रिस्टलीय विषमदैशिकता का अभाव है। केवल स्वरूप - विषमदैशिकता के आधार पर प्राप्त निग्राहिता 0.1 टेस्ला से कम है अतः सैद्धांतिक ऊर्जा गुणन ($\mu_0 M_s^2$)/4 का कोई अर्थ नहीं हैं।*

चुंबकत्वावेशष M_{rem} कहते हैं। अब विपरीत दिशा में चुंबकीय क्षेत्र लगाया जाय तो तीव्रता M धीरे-धीरे M_{rem} से कम होकर शून्य हो जाती है, पदार्थ की आंतरिक निग्राहिता $_iH_c$ कही जाती है। विपरीत दिशा में पदार्थ को संतृप्त कर पुनः धनात्मक क्षेत्र कर के शैथिल्य पाश को पूर्ण किया जाता है।

चूंकि बाह्य चुंबकीय बल संतृप्त तीव्रता M_s को प्रभावित नहीं करता, इस प्रकार के शैथिल्य पाश को आंतरिक शैथिल्य पाश कहते हैं। चुंबकीय तीव्रता के स्थान पर चुंबकीय प्रेरण M एवं बाह्य चुंबकीय बल B में बनाया गया शैथिल्य पाश बाह्य शैथिल्य पाश कहलाता है।

स्थायी चुंबकीय उपयोग के लिए योग्यता मापदंड:

स्थायी चुंबकीय पदार्थों की योग्यता दो प्रकार से निर्धारित की जाती है :-

(1) आंतरिक गुण : ये गुण मुख्यतः धातुओं के संयोजन एवं क्रिस्टलीय संरचना पर आधारित होते हैं। मुख्यतः आंतरिक गुण मापदंड निम्न हैं :

(अ) क्यूरी ताप T_c : अधिकतम ताप जिस तक चुंबक अपना चुंबकत्व रखता है।

(आ) संतृप्त चुंबकीय तीव्रता M_S: यह भी एक आंतरिक गुण है जो सामान्यतया लौह वर्ग (लौह, कोबाल्ट, निकल) के संयोजन बढ़ता है।

(इ) क्रिस्टलीय चुंबकत्व विषमदैशिकता H_A : यह वह बाह्य चुंबकीय बल है जिसको विपरीत दिशा में लगाने पर चुंबक अपनी चुंबकीय तीव्रता की दिशा पूर्णतः परिवर्तित करता है। यह भी क्रिस्टलीय एवं पदार्थ के घटकों की इलेक्ट्रॉनिक संरचना से निर्धारित होती है एवं दुर्लभ मृदा के संयोजन से बढ़ती है।

(2) बाह्य गुण : बाह्य गुण मुख्यतः पदार्थों के प्रक्रमण द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म संरचना पर निर्भर करते हैं। इस कारण इन गुणों की प्राप्ति के लिए प्रक्रमण प्राचलों पर अत्यंत नियत्रंण अति आवश्यक है। बाह्य गुण जो कि प्रक्रमण से विशेष प्रभावित होते हैं उनमें उल्लेखनीय बाह्य निग्राहिता $_BH_c$ एवं अधिकतम ऊर्जा गुणन $BH)_{max}$ है। सांख्यिकी तौर पर बाह्य शैथिल्य पाश के द्वितीय चतुर्थांश में समा सकने वाले सबसे बड़े आयत का क्षेत्रफल अधिकतम ऊर्जा गुणन $(BH)_{max}$ कहलाता है। गुणन पदार्थ के एकांक आयतन में संचित की जा सकने वाली चुंबकीय ऊर्जा के बराबर है। सैद्धांतिक तौर

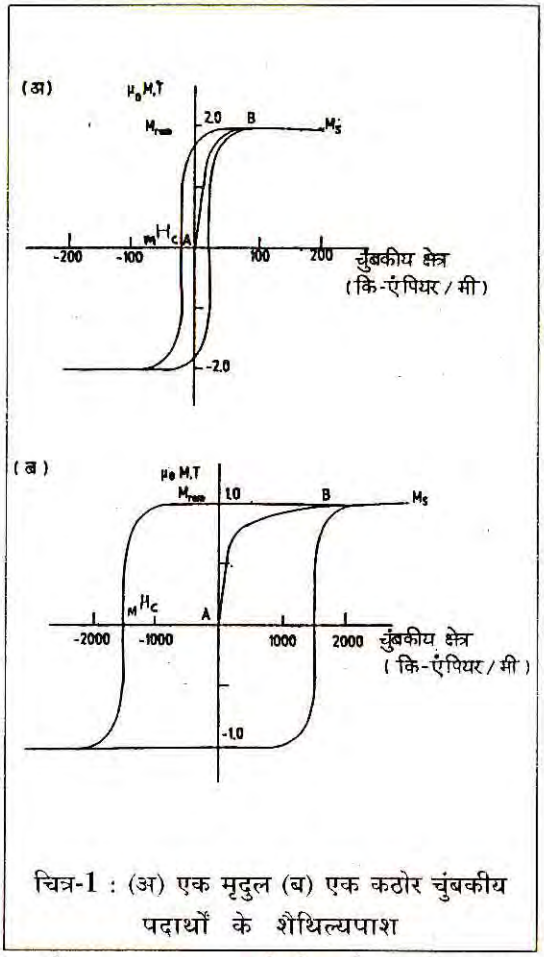

चित्र-1 : (अ) एक मृदुल (ब) एक कठोर चुंबकीय पदार्थों के शैथिल्यपाश

पर यदि बाह्य गुण इष्टतम हो तो ऊर्जा गुणन निम्न प्रकार से दर्शाया जाता है :-

$$(BH)_{max} \text{ (सैद्धांतिक)} = (1/4)\,\mu_0 M_S^2$$

सामान्य तौर पर प्रयुक्त स्थायी चुंबकीय पदार्थों के विभिन्न चुंबकीय अभिलक्षण तालिका- 1 में प्रदर्शित हैं। सामान्यतः व्यापारिक तौर पर उपलब्ध पदार्थों के ऊर्जा गुणन सैद्धांतिक सीमा का 60-70 प्रतिशत तक पाया जाता है। सामान्यतः शैथिल्य पाश के द्वितीय चतुर्थांश के वर्ग स्वरूप को बढ़ाने से ऊर्जा गुणन में वृद्धि होती है, परंतु ऐसा करना हर चुंबकीय प्रयोग के लिए हितकर नहीं होता। लघुकरण में प्रयोग के लिए चुंबकों का व्यास उनकी लंबाई से अधिक होता है। अभिमुखता अनुपात में कमी

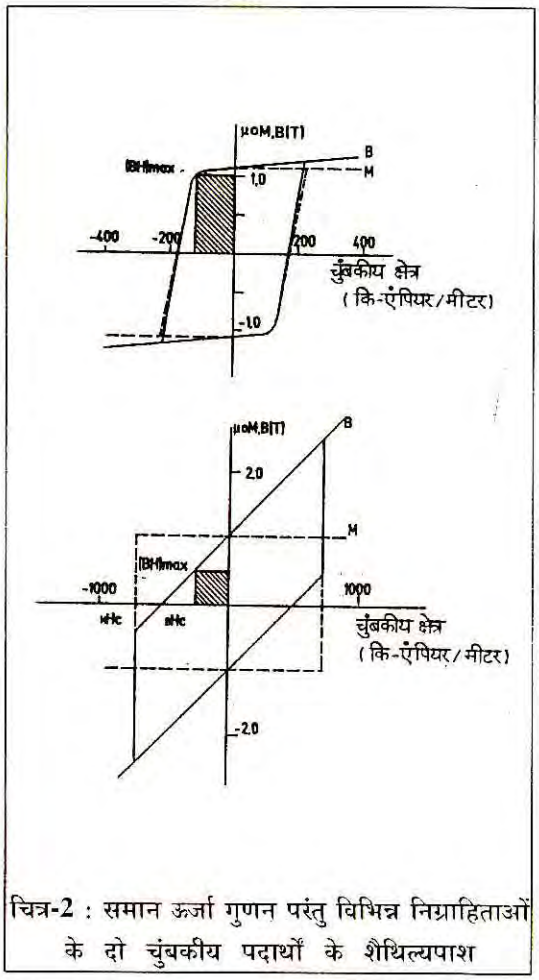

चित्र-2 : समान ऊर्जा गुणन परंतु विभिन्न निग्राहिताओं के दो चुंबकीय पदार्थों के शैथिल्यपाश

होने पर चुंबक की स्थिरता के लिए उसमें निग्राहिता H_c अधिक चाहिए। निग्राहिता की आवश्यक मात्रा होने पर ही चुंबकीय तीव्रता बढ़ाना विचारणीय होता है। चित्र-2 में दो स्थायी चुंबकीय पदार्थों के शैथिल्य पाश दिखाये गये हैं जिनमें ऊर्जा गुणन तो एक ही है, परंतु अलग-अलग निग्राहिताएं हैं। दुर्लभ मृदा चुंबकों में ऐसा परिवर्तन घटकों के उचित संयोजन एवं प्रक्रमण प्राचलों में उचित परिवर्तन से संभव है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि उच्च निष्पादन स्थायी चुंबकीय धातुओं में उच्च निग्राहिता, H_c उच्च चुंबकीय संतृप्ति M_s शैथिल्य पाश का वर्ग स्वरूप, उच्च ऊर्जा गुणन, उच्च क्यूरी ताप का होना आवश्यक है।

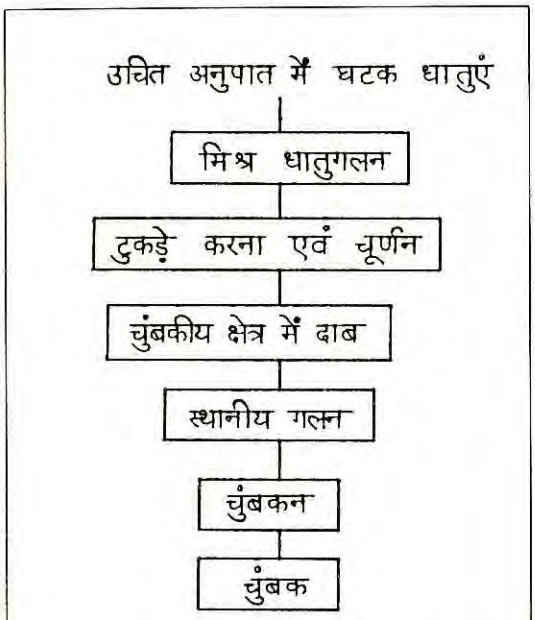

चित्र-3 : समेरियम-कोबाल्ट / नियोडाइमियम-लौह-बौरान चुंबक बनाने के चूर्ण-धातुकीय प्रक्रमण का प्रवाह-चित्र

दुर्लभ मृदा आधारित चुंबकीय पदार्थों का प्रक्रमण :

समय-कालानुसार दुर्लभ मृदा आधारित चुंबकीय पदार्थ मिश्र धातुओं को तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है: (1) समेरियम-कोबाल्ट (2) नियोडाइमियम-लौह-बौरान, एवं (3) समेरियम - लौह-नाइट्रोजन । यहां तीनों समूहों की प्रकरण विधि की संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है ।

समेरियम - कोबाल्ट : इस समूह में मुख्यत: घटकों के दो संयोजन हैं: $SmCo_5$ एवं Sm_2Co_{17} । यद्यपि दोनों संयोजन षटकोणीय क्रिस्टल संरचना पर आधारित हैं, क्रिस्टलीय विषमदैशिकता केवल $SmCo_5$ में ही उपलब्ध है । तदनुसार समेरियम कोबाल्ट मुख्यत: $SmCo_5$ संयोजन के आधार पर ही विकसित हुए हैं । इन चुंबकों को बनाने का प्रवाह चित्र चित्र-3 में दिखाया गया है । यह प्रवाह विधि चूर्ण धातुकर्मीय प्रक्रमण पर आधारित

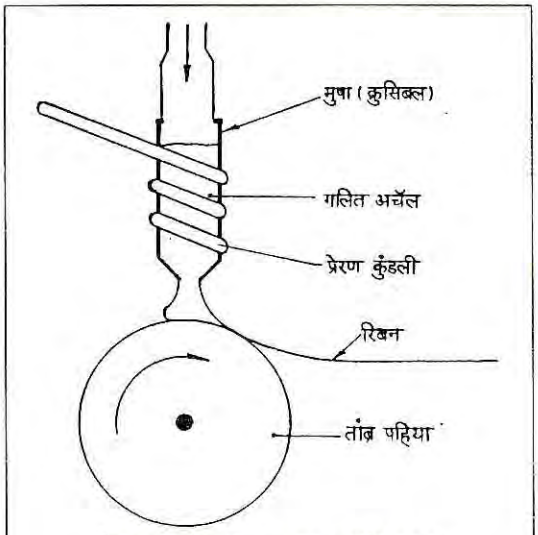

चित्र-4 : क्षिप्र शमन प्रक्रमण में प्रयुक्त गलितकताई यंत्र का रेखा-चित्र

है । घटकों के संयोजन से सर्वप्रथम मिश्र धातु का गलन किया जाता है । तत्पश्चात धातु के टुकड़ों का चूर्णन इस प्रकार किया जाता है कि प्रत्येक चूर्ण कण एक स्वतंत्र क्रिस्टल हो । इस प्रकार स्वतंत्र क्रिस्टलों के समूह को जब चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाता है तो सभी क्रिस्टल अपनी लंबाई की दिशा में पंक्तिबद्ध हो जाते हैं, जिससे चुंबकीय तीव्रता अधिकतम होती है । चुंबकीय पंक्ति होने के बाद चूर्ण को दबा कर अपक्व संहति प्राप्त स्वरूप को स्थानीय गलन द्वारा अंतिम स्वरुप में प्राप्त किया जाता है । इसे चुंबकित करके चुंबक के रूप में प्रयोग किया जाता है । Sm_2Co_{17} संरचना पर आधारित चुंबकों की विषमदैशिकता के कारण सूक्ष्म कणिका के स्तर पर मिश्रित करके उपयोग में लाया जा सकता है । ढ़लाई अथवा चूर्ण धातुकीय प्रक्रमण द्वारा औसत Sm_2Co_{17-8} संरचना को उचित उष्मोपचार द्वारा Sm_2Co_{17} एवं $SmCo_5$ सूक्ष्म मिश्रण को प्राप्त किया जाता है, जो कि चुंबक के रूप में उपयोग में लाये जाते हैं । यह प्रक्रिया कठिन होने के कारण कुछ मूल्यवान हो जाती है एवं इस कारण Sm_2Co_{17} आधारित चुंबक बहुत आवश्यक होने पर ही इस्तेमाल होते हैं ।

यद्यपि SmCo मिश्र धातु चुंबकों की निग्राहिता अच्छी है, परंतु कम संतृप्त एवं सामरिक महत्व की धातुओं

की निर्भरता के कारण कोबाल्ट के स्थान पर लोहे पर आधारित मिश्र धातुओं पर खोज जारी रही और 1984 में $Nd_2Fe_{14}B$ की खोज तक पहुंची ।

नियोडाइमियम-लौह-बौरान :

नियोडाइमियम-लौह-बौरान संयोजन $Nd_2Fe_{14}B$ जो कि द्विसमलंबाक्ष क्रिस्टल संरचना है, पर आधारित है । नियोडाइमियम-लौह में बौरान का मिलन अपेक्षित लंब दिशा में विषमदैशिकता उत्पन्न करता है । लौह पर आधारित होने के कारण इस समूह की चुंबकीय संतृप्तता अधिक है जिस कारण सैद्धांतिक ऊर्जा गुणन भी ज्ञात चुंबकीय पदार्थों में सर्वाधिक है । व्यापारिक दृष्टि से भी कम मूल्य होने के कारण इनका प्रयोग अधिक है परंतु क्यूरी ताप कम होने के कारण उच्च ताप पर इनका उपयोग संभव नहीं ।

ये संयोजन मुख्यत: दो विधियों द्वारा प्रक्रमित किये जाते हैं; (1) चूर्ण धातुकीय प्रक्रमण : यह पद्धति $SmCo_5$ के लिए प्रदर्शित पद्धति के ही अनुरुप है । गलन ताप, स्थानीय गलन ताप आदि $Nd_2Fe_{14}B$ पर आधारित होने के कारण $SmCo_5$ से अलग होते हैं । (2) क्षिप्र शमन प्रक्रमण : इस विधि में धातु को गला कर घूमते तांबे के चक्के पर फेंका जाता है, जिससे शमन दर 10^{6} ^{0}C प्रति सेकंड तक की प्राप्त होती है । इस कार्य के लिए विशेष गलित कताई यंत्र उपयोग में लाया जाता है जो कि चित्र-4 में प्रदर्शित है । इस प्रकार प्राप्त रिबन में क्रिस्टल का माप 100-150 नैनोमीटर तक सूक्ष्म होता है, जिस से निग्राहिता बढ़ती है । प्राप्त रिबनों को विभिन्न प्रकार से संगठित करके प्रयोग में लाया जाता है ।

उपरोक्त दोनों ही विधियां व्यापारिक दृष्टि से प्रयोग में लायी जाती हैं एवं अधिकतम प्राप्त ऊर्जा गुणन दोनों में क्रमश: 270 KJ/M^3 और 260 KJ/M^3 है जो तुलनीय है ।

समेरियम-लौह-नाइट्रोजन :

1990 में आयरलैंड के वैज्ञानिकों ने $Nd_2Fe_{14}B$ के गुणों के सुधार के लिए जब नाइट्रोजन वातावरण में गर्म किया तो प्राप्त संयोजन में चुंबकीय गुणों में वृद्धि पायी गयी । जैसा कि पहले बताया किया गया है कि Sm_2Fe_{17} एवं Sm_2Co_{17} में विषमदैशिकता का अभाव है । नाइट्रोजन वातावरण में गर्म करने पर इन पदार्थों में विषमदैशिकता का गुण पाया गया और तालिका-1 में वर्णित गुणों के अनुसार प्राप्त $Sm_2Fe_{17}N_x$ जहां ऊर्जा गुणन में $Nd_2Fe_{14}B$ के तुल्य है, क्यूरी ताप में करीब $150^{0}C$ ज्यादा है, दुर्लभ मृदा के स्तर भी $Nd_2Fe_{14}B$ की तुलना में कम हैं । इस मिश्र धातु संयोजन का इन्हीं कारणों से काफी विस्तार से अध्ययन किया जा रहा है एवं शीघ्र ही इस संयोजन में व्यापारिकता आने की संभावना है ।

मुख्यत: इसके प्रक्रमण की विधि Sm_2Fe_{17} मिश्र धातु गलन, चूर्णन, चूर्ण का नाइट्रोजनीकरण (नाइट्रोजन/अमोनिया वातावरण में ऊष्मोपचार), एवं तत्पश्चात प्राप्त $Sm_2Fe_{17}N_x$ चूर्ण का विभिन्न प्रकार से संगठन कर चुंबक बनाना है ।

स्थायी चुंबक के क्षेत्रों में आज अधिकाधिक अनुसंधान दुर्लभ मृदा आधारित मिश्र धातु पर है । विश्व स्तर पर एवं भारत में भी विभिन्न संस्थाओं मुख्यत: रक्षा धातुकीय अनुसंधान प्रयोगशाला में इन पर शोध जारी है । अनुसंधान एवं विकास की इस दर से ये पदार्थ आज के प्रमुख स्थायी चुंबकीय पदार्थों अर्थात फेराइट के प्रयोग को शीघ्र ही बहुत कम कर देंगे । ऐसा न केवल प्रचलित फेराइट प्रयोगों में स्थानापन्न होकर बल्कि कई नये क्षेत्रों के उत्पन्न से संभव है ।

❐❐❐

ओजोन छतरी में छेद : विश्वव्यापी समस्या*

डॉ. अनिल श्रीवास्तव
नौसेना सामग्री अनुसंधान प्रयोगशाला,
रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन,
पो. बैग. 10012, बंबई - 400 001

औद्योगीकरण की अंधाधुंध दौड़ में सी एफ सी यौगिकों का बेधड़क इस्तेमाल सारे विश्व में हो रहा है। ओजान पर्त सूर्य की हानिकारक पराबैंगनी किरणों से छतरी बनकर हमारी रक्षा कर रही है । इसे नष्ट होने से बचाने के लिए हमारे देश में भी शोध कार्य चल रहा है । इस लेख में ओजोन पर्त संबंधी विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है ।

सूर्य की खतरनाक पराबैंगनी किरणों से हमारी रक्षा करने वाली और वायुमंडल का महत्वपूर्ण हिस्सा - ओजोन पर्त पतली होती जा रही है और उसमें विशालकाय छिद्र हो चुके हैं । यह ओजोन की पर्त क्या है ? पराबैंगनी किरणों से पृथ्वीवासियों की रक्षा कैसी करती हैं ? इसमें छिद्र कैसे बनते हैं ? इनसे बचाव के क्या उपाय हैं ? आदि-आदि प्रश्नों के उत्तर जानने की इच्छा सहज एवं स्वाभाविक है।

ओजोन पर्त के नष्ट होने का परिणाम होगा सूर्य की पराबैंगनी किरणों का पृथ्वी तक सीधे पहुंचना । इन किरणों के प्रभाव से आंखों की रोशनी कम हो जायेगी, आंखों में मोतियाबिंद प्रचुरता से होने लगेगा । इन किरणों के प्रभाव से त्वचा काली पड़ जायेगी, चर्म कैंसर होने का भय बना रहेगा । इन किरणों का दुष्परिणाम हमारे शरीर की रोग प्रतिरोधकता को कम कर देगा और परिणाम होगा छूत की बीमारियों में वृद्धि । इन किरणों का प्रभाव पड़ेगा हमारी वनस्पतियों एवं पौधों पर । पौधों की प्रकाश संश्लेषण की क्रिया मंद हो जायेगी, बीजों का अंकुरण देर से होगा । ये किरणें समुद्र की सतह से कई मीटर गहराई तक पहुंच कर एक कोशीय पौधों, समुद्र में भारी संख्या में पाये जाने वाले प्राणियों को नष्ट कर देंगी । समुद्र में भारी संख्या में पाये जाने वाले ये प्राणी बड़ी मछलियों -व्हेल, सील, पेंग्विन आदि का पोषण करते हैं, जिनसे स्वयं मनुष्य अपना भोजन निर्माण करता है । इस तरह इन प्रणियों के विनाश का अर्थ होगा भोजन श्रृंखला का टूट जाना । इतना ही नहीं, इन पराबैंगनी किरणों की वजह से पृथ्वी का तापमान बढ़ जायेगा, जिससे ध्रुवों की बर्फ पिघलेगी, 'समुद्र तटीय क्षेत्र बंदरगाह जलमग्न हो जायेंगे । स्थिति कितनी भयावह होगी जब हमारे बच्चे इंद्रधनुष देखकर खुश होने के बजाय, इंद्रधनुष बनाने वाली सूर्य की रोशनी से डर कर घरों में छिपना पसंद करेंगे ।

ये सब खतरे आनेवाली पीढ़ियों या 21 वीं शताब्दी के वर्षों की बातें नहीं, बल्कि आज की विश्व व्यापी समस्या हैं । सन् 1985 में सबसे पहले पता चला था कि अंटार्कटिका के ऊपर ओजोन पर्त विरली हो गयी है तथा उसमें एक छिद्र भी हो गया है । यहां यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि सर्वप्रथम कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रो. रॉलैण्ड एवं मारियों मोलिना ने 1974 में ही ओजोन पर्त्त के पतली होने की संभावना से सारे विश्व को अवगत करा दिया था ।

ओजोन छतरी क्या है ?

ओजोन का निर्माण ऑक्सीजन पर पराबैंगनी किरणों के प्रहार से होता है । जब पराबैंगनी किरणें ऑक्सीजन के एक अणु पर प्रहार करती हैं तब वह दो परमाणुओं में विघटित हो जाता है । ये ऑक्सीजन के दोनों

**20-21 अप्रैल 1995 के दौरान 'ऊर्जा एवं पर्यावरण' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत वार्ता ।*

परमाणु ऑक्सीजन के दो अणुओं से जुड़कर ओजोन बना लेते हैं अर्थात ओजोन की रचना ऑक्सीजन के 'प्रकाश रासायनिक परिवर्तन' का प्रतिफल है। हमारी धरती के ऊपर ध्रुवों पर 8 किलोमीटर तथा विषुवत रेखा पर 17 किलोमीटर ऊंचाई तक का स्थान ट्रोपोस्फीयर कहलाता है। यह वायुमंडल का निचला हिस्सा है। इसके ऊपर लगभग 50 किलोमीटर की उंचाई का वायुमंडल-स्ट्रेटोस्फीयर के रूप में पहचाना जाता है (चित्र-1) इसी क्षेत्र में ओजोन का विस्तार होता है। यह ओजोन पृथ्वी को एक पर्दे या छतरी की भांति घेरे रहती है। इस छतरी को जीवन रक्षक छतरी कहना ही ज्यादा उपयुक्त होगा।

ओजोन छतरी झीनी क्यों हो रही है ?

उद्योग मानव सभ्यता के प्रतीक हैं, इन्हीं उद्योगों में प्रयुक्त रसायन ही ओजोन छतरी को हानि पहुंचा रहे हैं। ओजोन को तोड़नेवाले रसायनों में प्रमुख हैं – क्लोरो फ्लोरो कार्बन्स (सी एफ सी)। जब क्लोरोफ्लोरो कार्बन गैसें वायुमंडल में फैलती हैं तो ओजोन पर्त्त के ऊपर आ जाती हैं। वहां सूर्य की पराबैंगनी किरणें क्लोरोफ्लोरो कार्बन यौगिकों को विघटित कर देती हैं। ये रसायन जिनमें क्लोरीन प्रमुख है ओजोन की निचली सतह पर पहुंच जाते हैं। क्लोरीन ओजोन के अणु से ऑक्सीजन एक परमाणु लेकर सहज ही क्लोरीन ऑक्साइड बना लेती है। इसके साथ ही दो परमाणु ऑक्सीजन के भी बन जाते हैं। इतना ही नहीं, क्लोरीन ऑक्साइड पुनः क्लोरीन में परिवर्तित हो जाता है। यह क्लोरीन पुनः ओजोन अणुओं पर प्रहार कर उन्हें तोड़ देती है। इस प्रकार क्लोरीन का एक अणु हजारों ओजोन अणुओं को तोड़ने की क्षमता रखता है। जैसे-जैसे ओजोन की पर्त्त से ओजोन अणु नष्ट होते जाते हैं इसकी मोटाई कम होती जाती है एवं ओजोन छतरी में छेद हो जाते हैं। इन्हीं छिद्रों से सूर्य की पराबैंगनी किरणें अधिक मात्रा में पृथ्वी पर पहुंच सकती हैं। एक अनुमान के अनुसार यदि ओजोन की सांद्रता 7 प्रतिशत कम हो जाय तो पृथ्वी पर पहुंचने वाली पराबैंगनी किरणों की मात्रा में 15 प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी। वैज्ञानिकों द्वारा पिछले दशक में किये गये अध्ययन यह प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवीय प्रदेशों में ओजोन पर्त्त झीनी हुई है। अंटार्कटिका के आकाश में 5,000-12,000 किलोमीटर क्षेत्र में एक गोल संरचना वृत देखा गया है। आकाश में इस छिद्र को "ओजोन छिद्र" का नाम दिया गया है।

"ओजोन छिद्र" का प्रभाव सर्वप्रथम अंटार्कटिका के समुद्री जीवों में "पिगमेन्ट" के रूप में परिलक्षित होना प्रारंभ हो गया है। ये "पिगमेन्ट" पराबैंगनी किरणों के अवशोषण की वजह से बने हैं। आस्ट्रेलिया में भी गेहूं, सोरगम एवं मटर की फसलों पर पराबैंगनी किरणों का प्रभाव प्रमाणित हो चुका है। इतना ही नहीं, वहां के स्वास्थ्य अधिकारियों ने त्वचा के कैन्सर के मामलों में तीन गुनी वृद्धि होने की पुष्टि भी कर दी है जो निश्चित रूप से पृथ्वीवासियों के लिए एक गंभीर चेतावनी है।

सी एफ सी यौगिकों का उपयोग क्यों और कहां ?

विश्व की एक महान एवं महत्वपूर्ण वैज्ञानिक उपलब्धि के रूप में प्रो. टी. मिडग्ले एवं ए. एल्. हेन्ने ने (1930 में) सी एफ सी यौगिकों की खोज की थी। 1931 में आर-12 यौगिकों का व्यवसायिक उत्पादन प्रारंभ हुआ हुआ। इसके पश्चात आर-11 (1932 में), आर-114 (1933 में), आर-113 (1934 में) और आर-22 (1936 में) का उत्पादन होने लगा। प्रारंभिक वर्षों में इनका उपयोग सिर्फ वातानुकूलन तक ही सीमित रहा। बाद में एरोसॉल प्रोपेलेन्ट (सन् 1943), फोमिंग एजेन्ट (1960) एवं सफाई रसायनों (1970 में) के रूप में इन यौगिकों का प्रचुरता से उपयोग होने लगा। इन यौगिकों में अनेक विशेषताएं हैं। ये प्रज्वलनशील नहीं हैं और न ही विषैले हैं। इसके अतिरिक्त उच्च घनत्व, निम्न क्वथनांक, निम्न पृष्ठतनाव एवं निम्न विस्कासिता, निम्न तापीय संचालकता आदि दुर्लभ गुणों का एक साथ संयोजन ही इन यौगिकों का प्रचुरता से प्रयोग करने के लिए विभिन्न उद्योगों को प्रेरित करते हैं।

सी एफ सी यौगिकों का उपयोग वातानुकूलन उपकरणों, पैकेजिंग उद्योगों, इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योगों, बिजली पैदा करने, आग बुझाने के उपकरणों में, दवाओं के निर्माण आदि में बहुलता से हो रहा है। विभिन्न सी एफ सी यौगिकों का विवरण तालिका -1 में दिया गया है।

आधुनिक अनुसंधानों का मुख्य लक्ष्य : सी एफ सी के उपयुक्त विकल्प की खोज

सी एफ सी का विकल्प खोजते समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि वैकल्पिक यौगिकों में भी सी एफ सी यौगिकों की भांति आग नहीं लगे, विषैले नहीं हों। रासायनिक स्थायित्व आदि आदि गुणों से युक्त तो हों परंतु ओजोन में कमी लाने वाले दुर्गुण या तो बिल्कुल न हों या नगण्य हों। वस्तुत: ओजोन-पर्त को क्षति पहुंचाने में यौगिक में उपस्थित क्लोरीन का अनुपात एवं वायुमंडल में तरल यौगिकों के सक्रिय बने रहने का समय ही विशेष प्रभाव डालते हैं। प्रारंभ में खोजे गये सी एफ सी यौगिकों का ओजोन विनाशक अंक 1 था परंतु बाद में खोजे गये यौगिकों में यह अंक 3 से 10 तक पाया जाता है (तालिका-2)।

तालिका - 1: सामान्यत: उपयोग में आनेवाले सी एफ सी यौगिक

व्यवसायिक नाम	रासायनिक नाम	क्वथनांक (°फा.)
फ्रियान - 11	ट्राईक्लोरो फ्लोरो मीथेन	74.8
फ्रियान - 12	डाईक्लोरो डाईफ्लोरो मीथेन	21.6
फ्रियान - 21	डाईक्लोरो फ्लोरो मीथेन	48.1
फ्रियान - 22	क्लोरो डाईफ्लोरो मीथेन	41.4
फ्रियान - 114	डाईक्लोरो ट्रेटाफ्लोरो मीथेन	38.8

तालिका - 2 : सी एफ सी यौगिक का ओजोन विनाशक अंक

समूह	सी एफ सी	उपयोग	क्वथनांक (°फा.)
प्रथम समूह	आर - 11	ब्लोइंग एजेन्ट	1.0
	आर - 12	वातानुकूलन	1.0
	आर - 113	उत्तम विलायक	0.8
	आर - 114	पानी के शीतलन	1.0
	आर - 115	शीतकारी	0.6
द्वितीय समूह	हेलॉन - 121	अग्निशमन	3.0
	हेलॉन - 1301	अग्निशमन	10.0
	हेलॉन - 2402	अग्निशमन	6.0

वैज्ञानिक लगातार सी एफ सी के वैकल्पिक यौगिकों की खोज एवं उनके गुणों के अध्ययन में संघर्षरत हैं। अभी विकल्प के रूप में हाइड्रो फ्लोरो कार्बन की खोज की जा चुकी है। ये यौगिक स्थायी हैं। ये यौगिक वायुमंडल की ऊपरी सतह तक पहुंचते-पहुंचते नष्ट हो जाते हैं। इनका ओजोन विनाशक अंक 0.05 तक है। इनके रासानिक गुणों पर गहन अध्ययन जारी है। संभव है कि ये यौगिक भविष्य में सी एफ सी यौगिकों के विकल्प के रूप में प्रयुक्त हों। फिर भी अभी काफी शंकाएं उठायी जा रही हैं। आंकड़ों की कमी की वजह से अभी हम निर्णयात्मक स्थिति में नहीं पहुंच पा रहे हैं।

ओजोन छतरी भारत के परिप्रेक्ष्य में

सी एफ सी यौगिकों के उत्पादन में भारत का प्रवेश नया ही है। भारत में 1968 में प्रथम सी एफ सी उत्पादक संयंत्र प्रारंभ हुआ, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में 1931 से ही सी एफ सी यौगिकों का उत्पादन हो रहा है। भारत में सिर्फ 4 संयंत्र (नवीन फ्लोरीन इंडस्ट्री, एस. आर. एफ. लिमिटेड, गुजरात फ्लोरो केमिकल्स एवं मैसूर केमिकल्स) हैं। इन संयंत्रों द्वारा बनाये जाने वाली सी एफ सी की मात्रा सिर्फ 5 ग्राम प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में यह मात्रा 1700 ग्राम प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष है।

तीसरी दुनिया के देशों में भारत के प्रभाव को देखते हुए सी एफ सी संबंधी नीतियों के निर्धारण में भारत की विशेष भूमिका है। भारत जैसी भी नीति निर्धारित करेगा उसका अनुसरण अन्य छोटे विकासशील देश भी करेंगे। सी एफ सी के विकल्प की खोज की समस्या का एक पहलू यह भी है कि विकल्प खोजे जाने से पूर्व सी एफ सी का इस्तेमाल करने वाले उद्योग पहले ही इन रसायनों पर इतना धन व्यय कर चुके हैं और इनका प्रचुरता से उत्पादन और उपयोग हो रहा है - अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार इनके उत्पादन और उपयोग में प्रतिबंध लगाया जाये।

इस दिशा में देश ने भी नेशनल केमिकल लेबोरेटरी पूने में शोध कार्य प्रारंभ कर दिया है। नये खोजे गये यौगिकों को इंडियन इंस्टीटयूट आफ केमिकल टेक्नॉलॉजी, हैदराबाद में बनाया जायेगा। इंडस्ट्रियल टॉक्सिकोलॉजिकल लेबोरेटरी, लखनऊ में इन यौगिकों के विषैलेपन का परीक्षण किया जायेगा एवं सेन्ट्रल मैकेनिकल इंजिनियरिंग रिसर्च इंस्टीटयूट, रांची में उत्पादन किया जायेगा।

बचाव के उपाय

ओजोन के बचाव हेतु एक सुझाव दिया गया कि ऊपरी वायुमंडल से लगभग 30% ओजोन जो बहकर निचले वायुमंडल में आ जाती है उसे वापस ऊपरी वायुमंडल में भेज दिया जाय। इस कार्य में कुछ ऊर्जा की आवश्यकता होगी। प्रारंभ में यह सुझाव पूरे विश्व को भा गया बाद में जब इस थोड़ी ऊर्जा का आकलन किया गया तब ज्ञात हुआ कि पूरे विश्व में उपलब्ध ऊर्जा की करीब ढाई गुनी ऊर्जा इस कार्य को कर सकती है जो कि असंभव है। इस सुझाव के पश्चात कुछ वैज्ञानिकों ने सलाह दी कि क्यों न वायुमंडल में प्रोपेन और इथेन नामक रसायनों को पहुंचा दिया जाय। इस तरह ये रसायन सी एफ सी यौगिकों से क्रिया कर उन्हें नष्ट कर देंगे। इस कार्य के लिए आकलन करने पर ज्ञात हुआ कि तीस दिनों तक लगातार एक हजार जंबो जेटों को उड़ान भर कर ऊपरी वायुमंडल में इन रसायनों का छिड़काव करना पड़ेगा। रसायन तो उपलब्ध हैं पर समस्या है कि ऐसे यानों की उपलब्धता जो पृथ्वी से 15-25 किलोमीटर ऊपर उड़ान भर सकें। इसके साथ ही ओजोन क्षरण को और भी बढ़ा देंगे। प्रिन्सटन युनिवर्सिटी के प्रो. टॉमस स्टिक्स ने ओजोन बचाव के लिए सी एफ सी यौगिकों को स्ट्रेटोस्फीयर तक पहुंचने और ओजोन पर हमला करने के पूर्व ही उन्हें लेजर किरणों से नष्ट कर देने का सुझाव दिया है। लाखों लेजर किरणों की संरचना, परीक्षण और निर्माण की दीर्घ प्रक्रिया के पश्चात ही हमारा विज्ञान इतना सक्षम होगा कि लेजर किरणों से सिर्फ हानिकारक अणुओं को ही नष्ट कर सके।

(शेष पृष्ठ - 66 पर देखें)

वायुविलय तथा मूक घाटी का वायुमंडल*

प्र. दि. सफई, जी. ए. मोमीन, पी. एस. पी. राव,
ए. जी. पिल्लाई, एल. टी. खेमानी तथा एम. एस. नाईक
भारतीय उष्णदेशीय मौसम विज्ञान संस्थान,
पुणे - 411 008.

मूक घाटी में सूक्ष्म कणों वाले वायुविलयों का अधिक मात्रा में पाया जाना यह दर्शाता है कि इनका मुख्य स्रोत शायद जंगल की वनस्पति है। मानव की विविध गतिविधियों से (औद्योगिक तथा अन्य) यह जंगल अब तक बचा हुआ है तथा दूसरे औद्योगिक क्षेत्रों से, जो कि दूर हैं, किसी प्रकार के प्रदूषकों का इस जंगल में अभिगमन होना संभव नहीं है। इसलिए मूक घाटी का यह जंगल अभी भी अपने प्राकृतिक या नैसर्गिक पर्यावरण से जुड़ा हुआ है। अमेरिका में या यूरोप के कई अन्य देशों में बहुत से जंगल वायुप्रदूषण के कारण नष्ट हो चुके हैं या हो रहे हैं। मूक घाटी के इस जंगल के नैसर्गिक पर्यावरण को यदि बनाये रखना है तो हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि इस क्षेत्र में कोई बड़ा उद्योग शुरु ना होने पाये।

वायुमंडल में तैरते हुए या तरल अवस्था में जो ठोस तथा द्रव पदार्थ कण होते हैं, उनको वायुविलय (एरोसोल्स) कहा जाता है। वैसे देखा जाय तो खुद पूरा वायुमंडल ही एक बड़ा वायुविलय निकाय कहा जा सकता है, क्योंकि हवा में ये पदार्थ कण हर वक्त, हर जगह मौजूद रहते ही हैं। वायुविलयों के दो मुख्य स्रोत होते हैं; 1) नैसर्गिक स्रोत, जैसे कि पवन से मिट्टी या धूल का उठना और उड़ना, शैल का अपक्षयण, समुद्री-क्षार कण, ज्वालामुखी का उद्रेक, वनस्पतियों द्वारा उत्सर्जन, वन्य अग्नि, आकाश से उल्कापात, आदि और 2) मानव-निर्मित स्रोत, जैसे कि, औद्योगिक उत्सर्जन, खनन कार्य, भवन निर्माण, यातायात या परिवहन, कृषिविषयक गतिविधियां, आदि।

बहुत सी वायुमंडलीय प्रक्रियाओं में वायुविलयों की जो विशेष भूमिका रही है, उसको ध्यान में रखते हुए, उनके भौतिक तथा रासायनिक अभिलक्षणों का अध्ययन बहुत जरूरी है। सूर्य की किरणों को बिखेर कर या सोखकर ये कण वायुमंडलीय प्रकाशिकी में तथा विकिरण संतुलन जैसी प्रक्रियाओं में बड़ी भूमिका निभाते हैं। वायुमंडलीय दृश्यता में जो बदलाव आता है उसकी वजह भी वायुविलय ही हैं। वर्षा के लिए जो मेघ संघनन केंद्रक जरूरी होते हैं, उनके निर्माण में या उनकी वृद्धि में इन कणों का महत्व अत्यधिक है। साथ ही, वातावरण की विद्युतभारिता को भी ये प्रभावित करते हैं। वायु प्रदूषण, जो कि आज एक बड़ी समस्या का रूप धारण कर चुका है, उसमें भी खासकर अम्ल-निक्षेपण व फोटो कैमिकल स्मॉग आदि को बढ़ाने में वायुविलयों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। चिकित्सा विज्ञान में, श्वसन संबंधी जो बीमारियां आजकल तेजी से बढ़ रही हैं, उनका सीधा संबंध वायुविलयों की संख्या तथा उनके आकार और रासायनिक गठन से है। रक्षा अनुसंधान में भी वायुविलयों का होना अत्यंत उपयोगी एवं लाभकारी है। अंततः हाल ही में जो शोध हो रहा है. उसके निष्कर्षों के अनुसार, वातावरण की समतापमंडल नामक सतह में जो गंधकाम्लयुक्त वायुविलय होते हैं, वे वातावरण को शीत-अवस्था में रखने में महत्वपूर्ण होते हैं और इस तरह से वे, वैश्विक ऊष्णता या गरमी की प्रक्रिया को प्रतिबंधित करने में हाथ बंटाते हैं। पर्यावरण की विभिन्न प्रक्रियाओं पर वायुविलयों का

**20-21 अप्रैल 1995 के दौरान 'ऊर्जा एवं पर्यावरण' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत वार्ता।*

तालिका-1 : विभिन्न देशों द्वारा निर्धारित, कणिकीय ठोस पदार्थों की सांद्रता से संबंधित प्रमाणित मानकांक ($\mu g/m^3$)

देश	विशेष कथन	औसत समय (घंटों में)		
		0.5	8	24
स्वीडन	—	---	150	40
भारत	संवेदनशील विभाग	---	100	70
	आवासीय विभाग	---	200	140
	औद्योगिक विभाग	---	500	360
जापान	—	---	130	100
अमरीका	प्राथमिक	---	360	260
	द्वितीयक	---	210	150
रूस	—	500	210	150
फ्रान्स	—	---	210	150
चीन	वर्ग I	300	---	150
	वर्ग II	1000	420	300
	वर्ग III	1500	680	500
कनाडा	स्वीकार्य	---	170	120
	सहने योग्य	---	560	400

जो महत्वपूर्ण असर होता है, उसमें न केवल उनका भार अपितु उनका आकार तथा रासायनिक गठन ज्यादा प्रभावशाली होते हैं । जुंगे (1963) के मुताबिक, वायुविलयों के तीन प्रमुख प्रकार होते हैं : 1) ऐटकिन केंद्रक प्रणाली (Aitken Nuclei Mode) जिसमें कणों की त्रिज्या 0. 1 μm से कम होती है, वे बाद में इस प्रकार के कणों में परिवर्तित होते हैं । इनको कई बार अतिसूक्ष्म कणों के नाम से जाना जाता है । 2) संचयन प्रणाली (एकुमुलेशन मोड) जिसमें कणों की त्रिज्या 0.1 और 1.0 μm के बीच में होती है । इनका स्रोत भी औद्योगिक उत्सर्जन या कुछ नैसर्गिक प्रक्रियाएं होती हैं । ऐटकिन केंद्रकों के स्कंदन से (कोगुलेशन) भी ये कण निर्मित होते हैं । इनको कई बार 'बड़े कण' कहा जाता है । 3) अतिविशाल प्रणाली (जाइंट मोड) जिसमें कणों की त्रिज्या 1.0 μm से ज्यादा होती है । ये कण मुख्यतः नैसर्गिक स्रोतों से उत्पन्न होते हैं जैसे कि धूल या समुद्री क्षार आदि । व्हीटबी (1978) के अनुसार वायुविलयों के दो प्रमुख प्रकार होते हैं, 'सूक्ष्म कण,' जिनकी त्रिज्या 1.0 μm से कम होती है, 'मोटे कण' जिनकी त्रिज्या 1.0 μm से ज्यादा होती है ।

वायुविलयों का रासायनिक गठन भी उनके आकार एवं स्रोत पर निर्भर होता है । औद्योगिक गतिविधियों से जो कण उत्पन्न होते हैं वे ज्यादातर सूक्ष्म तथा अम्लधर्मी होते हैं, जैसे कि सल्फेट या नाइट्रेट युक्त कण जो सल्फर डाइऑक्साइड तथा नाइट्रोजन डाइऑक्साइड से परिवर्तित होते हैं । दूसरी ओर, नैसर्गिक प्रक्रियाओं से जो कण उत्पन्न होते हैं, वे ज्यादातर बड़े या मोटे तथा क्षारीय होते हैं । ये कण वातावरण की अम्लता को संतुलित करते हैं । लेकिन कभी-कभी, कार्बनिक अम्लयुक्त कण जो मुख्यतः वनस्पतियों द्वारा या जीवाश्मों के द्वारा उत्पन्न होते हैं, वातावरण की अम्लता को बढ़ाने में सहयोग देते हैं ।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, वायुविलयों की मात्रा वातावरण में फैलते हुए प्रदूषण का निर्देशांक होती है । इसलिए, पर्यावरण के संतुलन संबंधी या वातावरण में होते बदलाव के मॉडल संबंधी जो भी अध्ययन या शोध होता है, उसमें वायुविलयों की भूमिका निःसंदेह विशेष होती है । किसी भी प्रकार के पर्यावरण के लिए वायुविलयों संबंधी जो प्रमाणित मानकांक या सीमाएं तय की जाती हैं, उनके लिए पहले हमें उस पर्यावरण में वायुविलयों की न्यूनतम मात्रा का मालूम होना बहुत जरूरी है । विभिन्न देशों द्वारा निर्धारित मानकांक तालिका -1 में दिये गये हैं । भिन्न-भिन्न प्रकार

तालिका-2 : मूक घाटी में ऐटकिन केंद्रकों व कणिकीय ठोस पदार्थों की मौसमी सांद्रता

मौसम	ऐटकिन केंद्रों की सांद्रता (N/cm^3)	कणिकीय ठोस पदार्थों की सांद्रता ($\mu g/m^3$)
ग्रीष्म ऋतु	2070	44
वर्षा ऋतु	1525	30
शीत ऋतु	1851	37
वार्षिक औसत	1815	37

के अप्रदूषित या शुद्ध परिसरों से (समुद्री या भूखंडीय), वायुविलयों की संख्या, उनका आकार, भार एवं रासायनिक गठन संबंधी आंकड़ों का होना बहुत जरूरी है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए हमने दक्षिण भारत के, केरल राज्य स्थित मूक घाटी (साइलेंट वैली) के जंगलों में वायुविलयों के भार व आकार संबंधी परीक्षण किये।

स्थान परिचय तथा क्रिया पद्धति :

मूक घाटी का जंगल नीलगिरि जीवमंडल के कोर जोन के अंतर्गत आता है। यह निर्जन घाटी केरल राज्य के पालघाट जिले में है। इसका क्षेत्रफल 8952 हेक्टेयर है। यह भारत का सबसे बड़ा अंतिम और अछूता, सदाबहार जंगल है। यातायात के साधनों के अभाव तथा दुर्गम क्षेत्र के कारण यह जंगल अगम्य और अछूता रहा है। परीक्षण की जगह की ऊंचाई समुद्री सतह से कुल 990 मीटर ऊपर है। मूक घाटी के में वायुविलयों संबंधी प्रेक्षण 1989-90 के बीच, कुल तीन बार किया गया। ये परीक्षण विभिन्न ऋतुओं ग्रीष्म, वर्षा तथा शीत में किये गये। हर ऋतु में ये परीक्षण दस दिन किये गये।

ऐटकिन केंद्रकों का मापन गार्डनर काऊन्टर नामक उपकरण की सहायता से हर घंटे में किया गया। कणिकीय ठोस पदार्थों का संकलन करने के लिए 'उच्च आयतन संकलकों' का उपयोग किया गया। वॉटमन 41 निस्कंदन (फिल्टर) कागजों को काम में लाया गया। हवा को 1.3 घनमीटर प्रति मिनट की गति से शोषित किया गया तथा प्रतिदिन तीन नमूने लिये गये, जिनमें हर एक की अवधि करीब 8 घंटे की थी। वायुविलयों के भार एवं आकार का वितरण जानने के लिए ऐंडरसन लघु आयतन संकलकों का उपयोग किया गया। इसमें कुल नौ प्रकार के विभिन्न आकार के (ऐटकिन से लेकर विशाल कणों तक) वायुविलय संकलित करने के हेतु वॉटमन 41 निस्पंदन कागजों का इस्तेमाल किया गया। हवा को 20 लिटर प्रति मिनट की गति से शोषित किया गया। वायुविलयों के ज्यादा भार को प्राप्त करने के उद्देश्य से हर एक मौसम में, करीब सौ या उससे अधिक घंटों की अवधि का केवल एक ही संच चलाया गया। सभी प्रकार के निस्पंदन कागजों को वाष्परहित बनाने के लिए उन्हें उपयोग में लाने से पूर्व तथा बाद में, निर्धारित अवधि के लिए वाष्पशोषक कक्ष या आर्द्रता कक्ष में रखा गया था।

परिणाम एवं चर्चा :

इस पूरे अध्ययन के बाद जो परिणाम प्राप्त हुए उनकी इस शोध-निबंध में चर्चा की गयी है।

ऐटकिन केंद्रकों की सांद्रता व उनकी दैनिक विविधता:

गार्डनर काउन्टर नामक उपकरण में, एक मेघ कक्ष में हवा का रुद्धोष्म (एडियाबेटिक) विस्तार किया जाता है तथा उसमें स्थित मेघ संघनन केंद्रकों को मापा जाता है। ऐटकिन केंद्रकों की औसत मौसमी सांद्रता तालिका-2 में दी गयी है। इसे देखकर पता चलता है कि, वर्षा ऋतु में इनकी संख्या न्यूनतम तथा ग्रीष्म ऋतु में उच्चतम थी। इसकी वजह इन दो ऋतुओं की मौसमी विभिन्नता है। ग्रीष्म ऋतु में हवा का रुख ज्यादातर भूप्रदेश की ओर से होता है, जबकि वर्षा ऋतु में यह ज्यादातर समुद्र की तरफ से होता है। ग्रीष्म ऋतु में वन्य अग्नि जैसी घटनाएं भी बारबार होती हैं। साथ ही, वर्षा ऋतु में भारी एवं लगातार बारिश के कारण वातावरण के बहुत सारे वायुविलय भूमि पर निक्षेपित होत हैं। ऐटकिन केंद्रकों की दैनिक विविधता चित्र-1 में दर्शायी गयी है। इसे देखने से मालूम होता है कि, दोपहर के करीब दो बजे ऐटकिन केंद्रकों की सांद्रता उच्चतम होती है तथा रात के समय बहुत कम होती है। दोपहर के वक्त, सूर्य सीधा सिर के

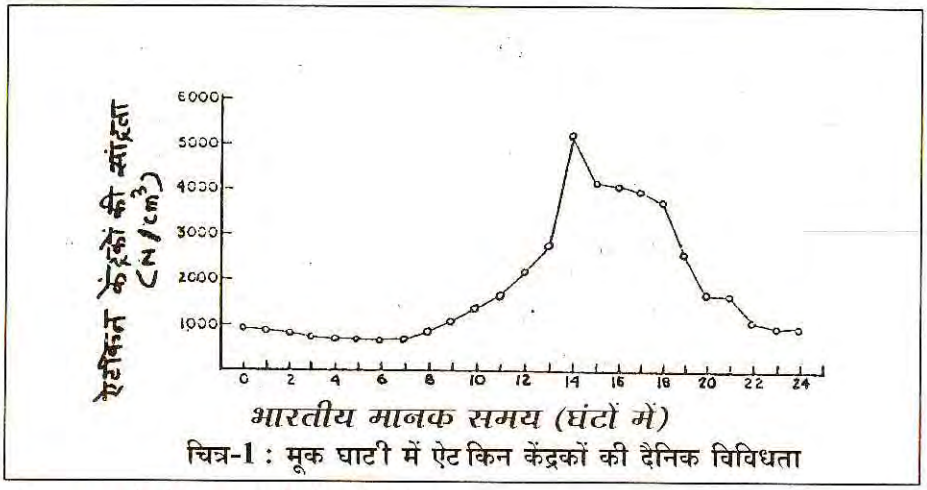

चित्र-1 : मूक घाटी में ऐटकिन केंद्रकों की दैनिक विविधता

तालिका - 3 : भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कणिकीय ठोस पदार्थों की सांद्रता ($\mu g/m^3$)

क्षेत्र	कणिकीय ठोस पदार्थों की सांद्रता
अहमदाबाद	252
अलिबाग	89
मुंबई	188
कलकत्ता	463
कोचीन	115
दिल्ली	420
हैदराबाद	156
जयपुर	328
कानपुर	381
मद्रास	153
मल्लिकादेवी	22
नागपुर	237
नैनीताल सिटी	68
पुणे (पाषाण)	100
रायपुर	74
सारणी	507
सिंहगड़	45
धुंबा	51
समुद्री क्षेत्र	39

ऊपर होता है और उसकी किरणें ज्यादा प्रखर होती हैं, जिसके कारण विशिष्ट प्रकार के वाष्प या वायु प्रकाश रासायनिक प्रक्रिया से कणों में परिवर्तित होते हैं। खासकर वनस्पतियों द्वारा उत्सर्जित टरपिन्स जैसे कार्बनिक पदार्थ, ऐटकिन केंद्रकों में परिवर्तित होते हैं। ऐटकिन केंद्रकों की वार्षिक औसत सांद्रता मूक घाटी में 1815 N/cm^3 पायी गयी। यह संख्या, जुंगे (1963) द्वारा दी गयी, सुदूर पर्वतीय क्षेत्रों के लिए पायी गयी संख्या से कम है। क्लेड्रेक (1988) आदि ने, पश्चिम अफ्रिका के कांगो नामक घने और अप्रदूषित, विषववृत्तीय जंगल में किये अध्ययन में भी, ऐटकिन केंद्रकों की सांद्रता लगभग 5000 N/cm^3 पायी थी।

कणिकीय ठोस पदार्थों की मौसमी सांद्रता :

मूक घाटी में कणिकीय ठोस पदार्थों की मौसमी सांद्रता तालिका -2 में दी गयी है। औसत मौसमी सांद्रता ऐटकिन केंद्रकों की ही तरह, ग्रीष्म ऋतु में उच्चतम तथा वर्षा में न्यूनतम थी। इसका कारण भी, जैसे कि पहले बताया गया है, इन दो ऋतुओं की मौसमी विभिन्नता है। कणिकीय ठोस पदार्थों की वार्षिक औसत सांद्रता मूक घाटी में केवल 37$\mu g/m^3$ पायी गयी, जो भारत के विभिन्न शहरी तथा औद्योगिक क्षेत्रों में पायी जानेवाली संख्या से बहुत कम है और अप्रदूषित क्षेत्रों के बराबर है (तालिका–3)। इस लक्षण का मुख्य कारण

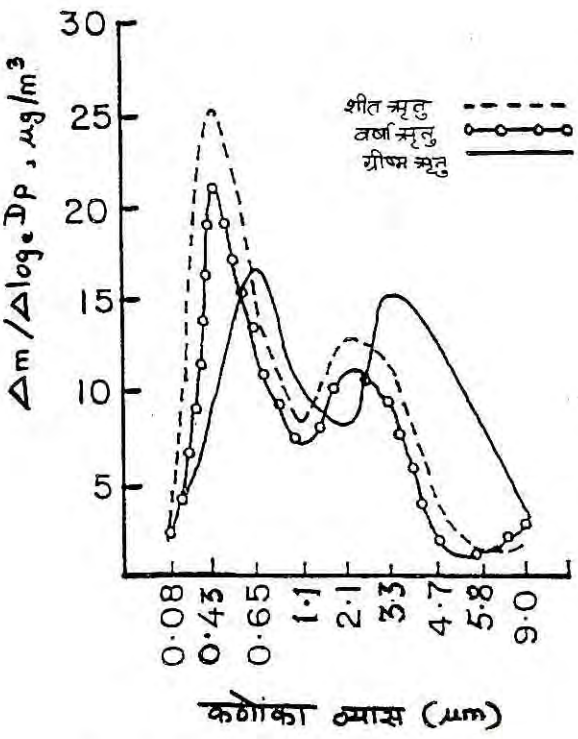

m = भार एवं D_p = कणों का व्यास

चित्र-2 : मूक घाटी में वायुविलयों के भार तथा आकार का वितरण

शायद इस जंगल का घना वनस्पति आवरण है, जिसकेकारण जमीन की क्षति बहुत कम होती है।

आकार तथा भार के आधार पर वायुविलयों का वितरण :

चित्र-2 में जैसा दिखाई देता है, उससे पता चलता है कि, वायुविलयों के भार आकार का वितरण द्विप्रणाली है। पहली प्रणाली में सूक्ष्मकण तथा दूसरी में बड़े कण सम्मिलित हैं। सूक्ष्म कणों का योगदान वर्षा तथा शीत ऋतु में बड़े कणों से अधिक है (60 प्रतिशत से ज्यादा) और ग्रीष्म ऋतु में भी सूक्ष्मकणों का योगदान अधिक है (55 प्रतिशत)। खेमानी (1989) ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जो वायुविलयों के भार-आकार वितरण संबंधी परीक्षण किये उनमें भी इसी प्रकार के द्विप्रणाली वितरण पाये गये लेकिन उनमें बड़े कणों का सहयोग सूक्ष्मकणों की अपेक्षा अधिक था। मानव-निर्मित उद्योग या उसकी अन्य गतिविधियां इस क्षेत्र में लगभग नहीं के बराबर हैं। इसलिए, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, सूक्ष्मकणों का मुख्य स्रोत, इस जंगल की वनस्पति हो सकती है। मोमीन (1990) आदि ने जो शोध किया उससे यह प्रमाणित हुआ है कि, विशिष्ट प्रकार की वायु जो ज्यादातर मानव निर्मित उद्योगों से उत्सर्जित होती हैं (SO_2, NO_2, NH_3), उनकी सांद्रता इस जंगल में न्यूनतम मात्रा के बराबर है।

❐❐❐

(पृष्ठ - 61 का शेषांश)

आपको शायद यह जानकर आश्चर्य होगा कि दुनिया के कुछ लोगों ने अभी से एहतियार्ती उपाय अपनाने प्रारंभ कर दिये हैं। चिली के शहर प्यून्टा ऑरेनास के अभिभावक अपने बच्चों को सुबह 10 बजे से शाम 4 बजे तक घरों से बाहर नहीं जाने देते हैं। फुटबाल के शौकीन भी अब दोपहर में मैदान में अभ्यास न कर शाम होने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। न्यूजीलैन्ड में स्कूल के बच्चों को हैट पहनने एवं दोपहर का भोजन पेड़ की छाया में बैठकर खाने का निर्देश दिया गया है। आस्ट्रेलिया सरकार अपने संचार माध्यमों से समय-समय पर पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से जनमानस को परिचित कराती रहती है।

ओजोन बचाव के लिए आज उठाया गया एक कदम, आने वाले वर्षों में भारी भरकम ओजोन चिकित्सा की संभावना को कम करेगा। यह प्रयास निश्चित रुप से मानव समाज को महा प्रलय से मुक्ति प्रदान कर सकेगा। मार्च 1985 में "वियाना" में ओजोन पर्त के बचाव हेत एक संगोष्ठी आयोजित की गयी। इसके पश्चात मांट्रियाल में एक उच्चस्तरीय बैठक में "ओजोन पर्त" के छिद्रित होने तथा उसके दुष्परिणामों प्रोटोकॉल" पर हस्ताक्षर कर न केवल विषय को गंभीरता से लिया, बल्कि यह निर्णय भी लिया कि वर्ष 2010 तक सारे विश्व में सी एफ सी यौगिकों का उत्पादन तथा प्रयोग बंद कर दिया जायेगा।

❐❐❐

अखिल भारतीय हिन्दी विज्ञान लेख प्रतियोगिता (1994) में प्रोत्साहन पुरस्कार प्राप्त (अहिन्दी भाषी)

सौर शक्ति

उमा शंकर भट्टाचार्य
20 ए, राजेन्द्रलाल स्ट्रीट, कलकत्ता - 700 006

ऊर्जा मानव सभ्यता के विकास की एक अत्यंत आवश्यक कड़ी है। आज किसी भी राष्ट्र की समृद्धता का मापदंड उस राष्ट्र के प्रति व्यक्ति बिजली खपत से लगाया जाता है। सौर ऊर्जा अधिक लागत, अधिक स्थान इत्यादि कमियों के बावजूद एक अविनाशी प्रदूषण विहीन ऊर्जा स्रोत है। इस लेख में बंगला भाषी लेखक ने सौर ऊर्जा के कुछ पहलुओं पर सरल रूप में प्रकाश डाला है।

यह बात आज सर्वविदित है कि मानव सभ्यता के विकास में ऊर्जा की भूमिका अपरिहार्य है। ऐतिहासिक तौर पर, अग्नि का आविष्कार ही मानव सभ्यता का सबसे महत्वपूर्ण पदछेप माना जाता है और आज भी विश्व के विकसित देशों में व्यक्ति-प्रति ऊर्जा की खपत, विकासशील या अविकसित देशों की तुलना में कई गुना अधिक पायी जाती है।

परंतु अपने ही जन्मदाता को मारने वाले दानव फ्रैंकेस्टाइन की तरह मानव सभ्यता और विकास की असंतुलित-बेलगाम दौड़ और फलतः ऊर्जा की अत्यधिक खपत उसी सभ्यता के लिए दोहरी जानलेवा समस्या बनकर रह गयी है।

एक तरफ निरंतर बढ़ती सभ्यता की ऊर्जा मांग बेतहाशा बढ़ रही है। साधारण गणित से ही यह साबित किया जा सकता है कि विश्व की ऊर्जा खपत यदि वार्षिक 5 प्रतिशत की गति से भी बढ़ती जाये तो अगले 20 वर्षों में ही हम उतनी ऊर्जा खर्च कर चुके होंगे जितनी कि सभ्यता के शुरु से आज तक की हो।

परंतु आम तौर पर इस्तेमाल होने वाली ऊर्जा, जैसे कोयला, लड़की व तेल की विश्व भर में मौजूदगी सीमित है। लकड़ी तो फिर भी हम पेड़ों के बीज बोकर 15-20 वर्षों में तैयार कर सकते हैं, परंतु प्रकृति के कारखाने में तेल या कोयला बनने में करोड़ों वर्ष लग जाते हैं। तो पहली समस्या यह है कि सभ्यता की गति को बनाये रखने के लिए जिस रफ्तार से हम विनाशशील ईंधनों की खपत कर रहे हैं, उससे अगले 20-25 वर्षों के अंदर विश्व के ऊर्जा भंडार समाप्त हो जायेंगे।

समस्या का दूसरा पहलू यह है कि उन जैवीय ईंधनों लकड़ी, कोयला, तेल का व्यवहार, प्रज्वलन के पश्चात ही हो सकता है और उस प्रज्वलन प्रक्रिया के फलस्वरूप तरह-तरह के वर्ज्य पदार्थ - जैसे राख, कार्बन डाईऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड, तरह-तरह के हानिकारक अम्ल आदि का निर्गमन होता है। प्रकृति में इस तरह के पदार्थों के निर्गमन को, जिससे विश्व के जीव-मंडल पर जहरीला असर पड़ता है, प्रदूषण कहते हैं।

सभ्यता को बढ़ाते रहने के लिए ऊर्जा की भारी खपत से उत्पन्न ऊर्जा संकट और प्रदूषण की दोहरी समस्या को ध्यान में रखकर विश्व भर के वैज्ञानिक, ऐसे ऊर्जा स्रोतों को ढूंढ़ने लगे, जिनसे वातावरण प्रदूषित न हो, तथा जिनकी आपूर्ति निरंतर होती रहे। इन खोजों के फलस्वरूप कुछ ऐसे ऊर्जा स्रोत उभरकर सामने आये जो हमारे वातावरण में ही विद्यमान हैं और जिनकी आपूर्ति शाश्वत है। साथ ही इनके प्रयोग से किसी भी तरह का प्रदूषण नहीं फैलता।

इस तरह की ऊर्जाएं हैं - सौर शक्ति, वायु शक्ति, जल-विद्युत आदि। इन सब में सौर शक्ति का विश्व भर में विशेष स्थान है। विश्व में अब सौर शक्ति को ही वह मसीहा माना जा रहा है, जो निकट भविष्य में आने वाले भारी ऊर्जा संकट से मानव जाति का उद्धार कर सकती है। करोड़ों रुपये की वार्षिक लागत से इस विशेष शक्ति

पर शोध कार्य किया जा रहा है ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यों तो विश्व की सृष्टि सूर्य से ही हुई थी । इसलिए विश्व में पाये जाने वाले तमाम पदार्थ और ऊर्जा सभी सूरज की ही देन हैं । तेल, कोयला या लकड़ी जैसे प्राथमिक ईंधन भी जैविक पदार्थों में संचित सौर ऊर्जा ही है । वायु शक्ति भी सूरज के ही ताप से उभरने वाली तापमात्रा के अंतरों का परिणाम है । इस विचार से सौर्य ऊर्जा ही हमारी सर्व-प्राथमिक ऊर्जा है ।

परंतु, आज के संदर्भ में, सौर ऊर्जा से हमारा मतलब, सूरज की किरणों या उनके ताप का सीधा प्रयोग है । इस विचार से भी सौर ऊर्जा का प्रयोग काफी हद तक प्रागैतिहासिक है । हजारों वर्ष से हम इसका इस्तेमाल फसलों के उगाने, फसल या कपड़ों को सुखाने के लिए करते हैं । रोशनी के लिए इसका इस्तेमाल तो उतना ही प्राचीन है, जितना कि रात और दिन ।

सौर ऊर्जा के इन प्राचीन, प्राकृतिक और प्राथमिक व्यवहारों को नजर-अंदाज करते हुए यदि हम इसके भारी पैमाने पर, वैज्ञानिक उपयोग की चर्चा करें, तो हम पायेंगे कि लगभग 1950 के बाद से ही इस विषय पर मनुष्य का विशेष ध्यान गया है ।

द्वितीय विश्व युद्ध के तुरंत पश्चात ही ऊर्जा संकट का पहला आभास मानव-समाज को मिला । परमाणु-ऊर्जा इस समय मानव-हृदय पर हिरोशिमा-नागासाकी की भयानक स्मृतियों से जुड़ गयी । वैकल्पिक शक्ति की खोज में, इसी समय सौर ऊर्जा एक सरल, विष मुक्त, अपितु शक्तिशाली ऊर्जा संभार के रूप में मानवता के सामने प्रकट हुई ।

सूर्य की शक्ति

सौर-वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी के वायुमंडल की ऊपरी सतह पर गिरने वाली सौर विकिरणों का परिमाण 1.36 किवा. / वर्ग मी. है । उस ऊपरी सतह का क्षेत्रफल है $5x10^{14}$ वर्ग मी. । इस हिसाब से पृथ्वी की बाहरी सतह पर प्राप्त सौर शक्ति का परिमाण है $8.5x10^{13}$ किवा.। 1975 के आंकड़ों के अनुसार सारे विश्व में खपत हुई प्रचलित प्राथमिक ऊर्जाओं की कुल शक्ति थी केवल $8.5x10^{9}$ किवा. ।

इन आंकड़ों से साफ जाहिर है कि औसत बादल और वायुमंडलीय धूल कणों के बावजूद भी यदि सिर्फ 10 प्रतिशत सौर शक्ति ही धरती की सतह पर प्राप्त हो तो भी यह हमारी वर्तमान (1975) ऊर्जा खपत की हजार गुना है ।

अत: क्षमता की दृष्टि से निश्चित ही सौर शक्ति हमारी सभी प्रचलित ऊर्जा शक्तियों की बराबरी कर सकती है, अर्थात उनका स्थान ले सकती है । सौर शक्ति की संपूर्ण सफलता के लिए एक और बात का होना भी जरूरी है । वह यह कि क्या सौर शक्ति का इस्तेमाल हम उन सभी कार्यों के लिए कर सकते हैं, जो फिलहाल प्रचलित ऊर्जाओं के द्वारा हो रहे हैं ।

सौर्य शक्ति का व्यवहार :

प्राथमिक या प्रचलित ऊर्जाओं का व्यवहार मुख्यत: बिजली उत्पादन, परिवहन, वस्तुओं को गरम करने या सुखाने के लिए, रोशनी के लिए, मशीनों को चलाने, शीतलीकरण और वातानुकूलन के लिए और भोजन पकाने के लिए किया जाता है ।

1988 में दिसंबर में, हैदराबाद में हुए 'राष्ट्रीय सौर्य ऊर्जा सम्मेलन', में विश्व भर के वैज्ञानिकों ने उपर्युक्त सभी कार्यों में सौर्य शक्ति के व्यवहार की चर्चा की । ऊष्मीकरण और बिजली उत्पादन में सौर वैज्ञानिक तो सफल हुए ही हैं, यहां तक कि अब सूर्य से शीतलीकरण का काम भी लिया जा सकता है । यही सौर-वैज्ञानिकों की चरम सफलता है, कि जिस सूर्य को हम गर्मी के प्राथमिक कारण के रूप में जानते हैं, उसी सूर्य से अब वस्तुओं को ठंडा किया जा सकेगा ।

अनुप्रयोग :

मूलभूत विज्ञान व तकनीक

विकिरणों के रूप में सौर - ऊर्जा हमें धरती पर प्राप्त होती है । इन विकिरणों को सबसे पहले समेटना पड़ता हैं । जिन आधारों में हम सौर विकिरणों को समेटते हैं उन्हें संग्राहक (कलेक्टर) कहा जाता है । आम तौर पर दो

तरह के संग्राहकों का इस्तेमाल होता है :-

(क) - समतल संग्राहक

इसमें आधार एक आयताकार समतल पट के रूप में होता है, जिसे सूर्य की औसत गति पथ की दिशा में स्थायी रूप से बैठाया जाता है ।

(ख) - संकेद्रक आधार (संग्राहक)

इस तरह के आधार सूर्य किरणों को संकेद्रित कर एक छोटे क्षेत्र में बटोरते हैं जिससे समतल आधार की तुलना में कहीं अधिक ताप मात्रा मिल पाती है । इस तरह के आधार को सूर्य के गति पथ के अनुसार निरंतर घुमाते रहने की जरूरत पड़ती है । उस संयंत्र, जिससे हम संकेद्रक आधार को निरंतर घुमाकर सूर्य के मुखातिब करते हैं, उसे सौर अनुसरण संयंत्र कहते हैं ।

सौर शक्ति को संग्रहित करने के बाद ही उसे उपयोग में लाया जा सकता है । अब तक के जितने भी सौर संयंत्र बने हैं उन सबको मात्र दो श्रेणियों के अंतर्गत समझा जा सकता है :-

1) सौर तापीय संयंत्र

इन सबमें सौर ऊर्जा को तापीय ऊर्जा में रूपांतरित करके व्यवहार किया जाता है ।

इस प्रकिया के अंतर्गत सौर चूल्हा, गर्म पानी / हवा संयंत्र, सौर शुष्कीकरण, शीतलीकरण आदि के अधिकांश प्रयोग हुए हैं । चूंकि सौर ऊर्जा का तापीय ऊर्जा में रूपांतरण काफी आसान और सतत प्रक्रिया है, इसलिए सौर तापीय संयंत्रों में लागत कम आती है ।

2) प्रकाश - वैद्युतीय संयंत्र

हम जानते हैं कि कुछ पदार्थों पर प्रकाश के गिरने से उन धातुओं में विद्युत पैदा होती है । इस तथ्य का व्यवहार प्रकाश-विद्युतीय संयंत्रों में किया जाता है ।

सूर्य की किरणों को विशेष धातुओं से निर्मित पट पर गिरने दिया जाता है । प्रकाश विद्युतीय प्रक्रिया में उत्पन्न उस बिजली से तरह तरह के काम, जैसे बिजली उत्पादन, रोशनी, मशीनों को चलाना आदि किया जाता है ।

इन दो श्रेणियों के अंतर्गत निर्मित संयंत्रों में से कुछ इस प्रकार हैं :

1) सौर चूल्हा

यूं तो कई प्रकार के सौर चूल्हे बनाये जा चुके हैं और इनका वाणिज्यिक स्तर पर भी उत्पादन हो रहा है, पर इनमें सबसे लोकप्रिय है डब्बे के आकार का चूल्हा । इस 'डब्बे' की चारों दीवारें और आधार, लकड़ी, प्लास्टिक या हल्के धातु के बने होते हैं । इनमें एक भीतरी दीवार तथा एक बाहरी दीवार होती है जिनके बीच का खोखला स्थान, भूसा, काठ-चूर्ण, एस्बेस्टस या ग्लास-वूल जैसे ताप निरोधक पदार्थों से भर दिया जाता है । डब्बे की आकृति गोल अथवा चौकोर होती है ।

डब्बे के ढक्कन पर कांच या चमकने वाली धातु प्रतिफलक या कांच का बना लेंस लगाया जाता है । ढक्कन को खोल कर प्रतिफलक को सूर्य की दिशा में रखने पर सारी सूर्य किरणों को संग्रहित कर डब्बे के अंदर रखे पात्रों पर समाहित कर देता है । इससे डब्बे के अंदर का हिस्सा गर्म हो जाता है और पात्रों में रखे भोजन पक जाते हैं ।

इस तरह के चूल्हों का परीक्षण हर जगह सफल रहा है तथा बहुत जल्द ही इसकी लोकप्रियता काफी बढ़ जाने की संभावना देखी जा रही है । वैसे इस तकनीक में अभी कुछ कमियां रह गयी हैं । जैसे - चूल्हों की अधिक कीमत, बरसात में या रात को इस्तेमाल न कर पाना । चूल्हे को घर की छत पर रखने की जरूरत, भोजन पकाने में विलंब, इत्यादि ।

2) घरेलू गरम पानी संयंत्र

यह भी एक लोकप्रिय सौर संयंत्र है, जो व्यवसायिक पैमाने पर भी सफल हो चला है । खास कर सर्दी के मौसम में पीने, भोजन पकाने, कपड़े धोने आदि के लिए गरम पानी की जो आवश्यकता होती है, उसे इस संयंत्र से प्राप्त किया जा सकता है । होटलों, आवास गृहों, अस्पताल आदि में भी उनका प्रयोग हो रहा है ।

इस तकनीक में मकान की छत पर साधारणत: एक समतल आधार बैठाया जाता है । उस आधार की निचली

सतह पर तांबे या लोहे की नलियाँ होती हैं। गरम किये जाने वाले पानी को एक ताप निरोधित जलाधार में रखा जाता है, जिसकी ऊंचाई सौर आधार की ऊंचाई से अधिक होती है। इस आधार के निचले हिस्से से पानी को सौर - आधार स्थित नलियों में गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से प्रवाहित कर दिया जाता है। आधार-नलियों का पानी सौर ताप से तप्त हो कर हल्का हो जाने के कारण नलियों के ऊपरी हिस्से से होती हुई जलाधार के ऊपरी सतह तक पहुंच जाती है। इस प्रक्रिया को तापीय फव्वारा कहा जाता है।

इस संयंत्र की खूबी यह है कि जलाधार के ताप-निरोधित होने के कारण गर्म हुए पानी को सूर्यास्त के 12 घंटे से अधिक समय तक इस्तेमाल किया जा सकता है।

इस तरह के संयंत्रों की मुख्य समस्याएं हैं :- अधिक मूल्य (चार व्यक्तियों के परिवार के लिए दैनिक 50-100 लीटर क्षमता वाले संयंत्रों की जरूरत होती है, जिसका बाजार मूल्य 7000-15000 रुपये तक हो सकता है), बरसात में बेकार हो जाना, गर्म पानी के संस्पर्श से नलियों का क्षय हो जाना तथा मकान के खुले हिस्से में रखने के कारण संयंत्र का नष्ट हो जाना।

3) सौर - शीतलीकरण संयंत्र

जैसा कि पहले कहा गया है, शीतलीकरण, सौर ऊर्जा के व्यवहार का सबसे आश्चर्यजनक पहलू है। आजकल ऐसे संयंत्र विकसित किये जा रहे हैं जिनसे सूर्य ताप से ही सीधा शीतलीकरण संभव होगा। लेखक के स्नातकोत्तर शोध कार्य के दौरान पाये गये सौर शीतलीकरण से संबंधित तथ्य इस दिशा में काफी महत्वपूर्ण हैं।

शीतलन की दो प्रचलित पद्धतियां हैं, जिनमें वैद्युतिक शक्ति के स्थान पर ताप शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। ये पद्धतियाँ हैं - वाष्प अवशोषण और वाष्प-प्रवाह (जेट)। सौर शीतलन के वर्तमान प्रयास इन्हीं दो पद्धतियों में ताप शक्ति की जरूरत को सौर ऊर्जा से पूरा करने पर किये जा रहे हैं। तकनीकी स्तर पर यह अब संभव भी हो गया है लेकिन अधिक लागत एक मुख्य समस्या है।

4) विद्युत उत्पादन

सौर तापीय संयंत्रों से यह से यह बिल्कुल अलग तकनीक है इसमें सिलिकॉन, कैडमियम, सेलेनियम, जर्मेनियम जैसे अर्द्धधातु पदार्थों से बनी युक्तियों की सहायता से विद्युत उत्पन्न की जाती है। इसका उपयोग अंतरिक्ष यानों या कृत्रिम उपग्रहों के विद्युतीकरण, वाहनों (गाड़ी, बस आदि) को चलाने, रेलगाड़ियों के वातानुकूलन आदि के लिए (खास कर जापान, अमेरिका आदि देशों में इसका सफल प्रयोग हुआ है।), रोशनी और अन्य वैद्युतीय यंत्रों को चलाने इत्यादि के लिए हो पा रहा है।

यह स्पष्ट है कि सौर शक्ति एक ऐसा ऊर्जा विकल्प है, जो प्रचलित ऊर्जाओं की कमी से मनुष्य को कुछ हद तक राहत पहुंचा सकता है। यहां तक कहना भी गलत नहीं होगा कि सौर शक्ति ही एकमात्र वैकल्पिक ऊर्जा है जो प्रचलित ऊर्जाओं के सभी कार्यों का निर्वाह कर सकती है। दूसरी वैकल्पिक शक्ति जैसे वायु, जल-विद्युत, यहां तक कि परमाणु शक्ति भी छोटे पैमाने के प्रयोगों जैसे चूल्हा, यान, आदि के काम नहीं आ सकती। अत्यधिक लागत, रात को या वर्षा के मौसम में अनुपलब्ध होना, उपयुक्त संग्राहक-प्रणाली का अभाव या प्रणालियों का कीमती होना, अति उच्च तापमान की अनुपलब्धि, सौर आधारों के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता, इत्यादि इस स्रोत की कुछ कमियां हैं। इसके साथ ही इसके कुछ खास गुण इस प्रकार हैं : (क) अविनाशी शक्ति स्रोत, जिससे पृथ्वी की सारी ऊर्जा मांग को पूरा किया जा सकता है। (ख) यह प्रदूषण-रहित है। (ग) देखभाल या मरम्मत के अलावा इसके व्यवहार में कोई आवर्ती खर्चा नहीं आता है। (घ) ग्रामीण, पर्वतीय या दुर्गम्य स्थानों में जहां प्रचलित ऊर्जाएँ, बिजली आदि नहीं पहुंचाई जा सकती, वहां सौर संयंत्र बैठाये जा सकते हैं।

❐❐❐

अखिल भारतीय हिंदी विज्ञान लेख प्रतियोगिता (1994) में प्रोत्साहन पुरस्कार प्राप्त (अहिंदी भाषी)

मातृत्व और कृत्रिम गर्भधारण

शोभा नाखरे
42, श्रीकृष्ण नगर,
बोरीवली (पू.), मुंबई - 400 066.

गर्भधारण कर मां बनना हर स्त्री का नैसर्गिक अधिकार है। पर कभी-कभी पति पत्नी की आपसी गलती के कारण और कभी दोनों में से किसी एक अथवा दोनों की शारीरिक विकृति के कारण स्त्री के इस नैसर्गिक अधिकार में व्यवधान पड़ जाता है। शारीरिक अड़चनों के कारण नैसर्गिक गर्भधारण से वंचित पति-पत्नी हेतु भी मातृत्व सुख के लिए अनेक कृत्रिम गर्भधारण तकनीकें उपलब्ध हैं जिनका उल्लेख इस लेख में किया गया है।

"क्यों उमा, शादी को आठ साल हो गये न ? अब तक बच्चे की ख़बर नहीं ? अपना नहीं तो सास-ससुर का ख़याल करो, वो तो अब बूढ़े हो गये हैं। यह ख़ानदान की इज्जत का सवाल है। उसे तो बचाना चाहिए। अब प्लानिंग ख़त्म करो, ज़रा गौर से सोचना शुरू करो। ताकि घर में बच्चे की मुस्कान दिखायी दे।" इस प्रकार की आपसी बातें हम बहुत बार सुनते हैं। सुनकर भूल भी जाते हैं। लेकिन जिनको इस प्रकार की समस्या का मुकाबला करना पड़ता है, उन्हें ही उसकी वेदना का, गहराई का पता चलता है। घर में सास-ससुर के दबाव से ऐसा लगता है जैसे इसमें पत्नी का दोष हो। बड़ों की सलाह से डॉक्टर को दिखाने का सुझाव दिया जाता है तथा वहां जाने पर पति-पत्नी दोनों को हार्मोन्स बढ़ाने के इंजेक्शन्स आदि दिये जाते हैं। नतीजा कुछ होता नहीं है। ढेर सारा पैसा फूंक देने पर भी मानसिक शारीरिक और भावनात्मक हालत और भी बिगड़ जाती है। निराश पति-पत्नी के आगे अब दो ही रास्ते रह जाते हैं; (अ) किसी बच्चे को गोद लेना; (ब) बाहरी सहायता से (कृत्रिम) पुनरुत्पादन।

जिस दंपति के लिए नैसर्गिक गर्भधारण करना असंभव है ; उसके लिए कृत्रिम तरीके का इस्तेमाल किया जाता है।

चित्र - 1 में फनेल जैसी दो नलिकाएं दिखायी गयी हैं। उन्हें गर्भाशय नलिकाएं कहते हैं। इनके नीचे, एक ओर स्त्री-ग्रंथि है। इन दोनों में थोड़ा नैसर्गिक अंतर है। योनी से आये हुए शुक्राणु गर्भाशय में आ जाते हैं। शुक्राणुओं का स्त्री डिंब से संयोग होने के लिए उन्हें (उपर्निर्दिष्ट) यह दूरी कम करनी पड़ती है। जिस स्त्री में यह अंतर, अंतर ही रह जाता है उसमें नैसर्गिक गर्भधारण करना असंभव होता है। वहीं ही कृत्रिम तरीके का सहारा लेना पड़ता है।

विश्व स्वास्थ्य संस्था के अनुसार (1) 75 प्रतिशत दंपतियों को शादी के बाद एक वर्ष में ही गर्भधारण होता है। (2) 10 प्रतिशत (लोग) दो बरस में ही मां-बाप बनना निश्चित करते हैं। (3) बचे हुए 15 प्रतिशत पति पत्नियां खुद के प्रयत्न से पालक नहीं बन सकते। उनके लिए कृत्रिम मार्ग का सुझाव दिया गया है। परीक्षण के बाद अधिक उम्र के पति-पत्नी को "टेस्ट ट्यूब बेबी" (In Vitro Fertilization) का सुझाव दिया जाता है जो बहुत ही खर्चीला है। इसके अलावा इसमें भाग दौड़ भी बहुत होती है, वैद्यकीय सहायता भी सुलभ नहीं है, और इसकी सफलता भी मात्र 20% ही है। तकनीकी सहायता भी अभी अच्छी तरह सुलभ नहीं है। पत्नी को दो-तीन दिन अस्पताल में रहना पड़ता है। इन बातों को देखते हुए अब बाहरी सहायता से कृत्रिम पुनरुत्पादन तकनीक (ART) में सुधार किये गये हैं। आसानी के तौर पर कृत्रिम तरीके को सुलभ बनाने और खर्चा कम करने के लिए ज्यादा से ज्यादा प्रयत्न किये गये हैं।

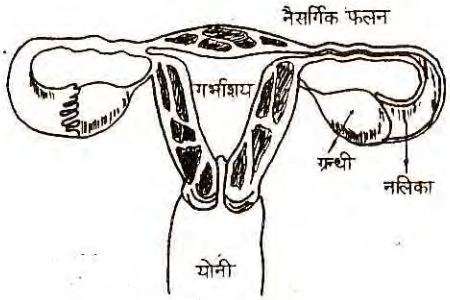

चित्र-1 : नारी की पुनरुत्पादन प्रणाली की बनावट

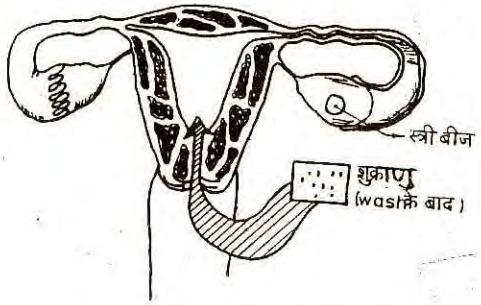

चित्र-2 : कृत्रिम गर्भधारण प्रक्रिया

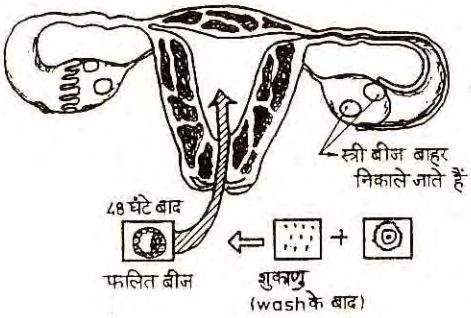

चित्र-3 : इन विट्रो फर्टीलाइजेशन (टेस्ट ट्यूब बेबी) प्रक्रिया

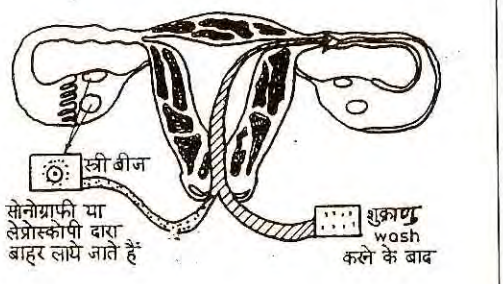

चित्र-4 : गैमट इन्ट्राफैलोपियन ट्रांस्फर प्रक्रिया

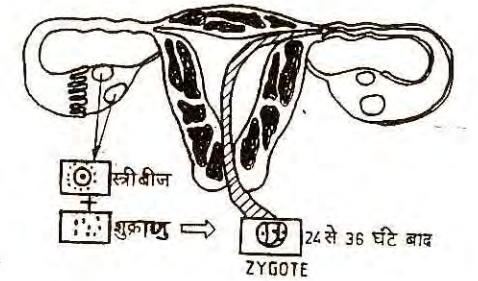

चित्र-5 : जाइगोट इन्ट्राफैलोपियन ट्रांस्फर प्रक्रिया

कृत्रिम गर्भधारण कैसे होता है ?

पुरुष के शुक्राणुओं में से अच्छे, कार्यशाली और प्रभावशाली शुक्राणु अलग करना स्पर्म वाश कहलाता है जो बहुत ही कठिन कार्य है। यदि शुक्राणु अच्छी तरह से पृथक नहीं किये गये तो सारी तकनीक असफल हो जाती है। यदि स्पर्म वाश के बिना शुक्राणु गर्भाशय में पहुंचाये जायें, या इस्तेमाल किये जायें तो लाभकारी होने के बजाय यह हानिकारक होता है जिससे गर्भाशय थैली बंद भी हो सकती है। विशिष्ट द्रव पदार्थ की सहायता से अच्छे शुक्राणु अलग किये जाते हैं। यदि ऐसा नहीं किया गया तो-संक्रमण (इन्फेक्शन) होने की भी संभावना होती है। गर्भाशय या गर्भनलिकाओं को भी नुकसान पहुंच सकता है। इसलिए ART की सभी क्रियाओं में स्पर्म वाश महत्वपूर्ण है। इसके लिए जंतुविरहित, स्वच्छ वैद्यकीय प्रयोगशाला अपेक्षित है। और उसमें काम करने के लिए प्रशिक्षित जैविक पुनरुत्पादक कार्यकर्ता की आवश्यकता होती है।

कृत्रिम गर्भधारण की पद्धतियां :

i) पति की सहायता से कृत्रिम गर्भधारण (आर्टीफिशियल इन्सेमिनेशन बाई हजबैंड - AIH)
ii) वीर्य दाता के शुक्राणुओं की सहायता से गर्भधारण (आर्टीफिशियल इन्सेमिनेशन बाई डोनर - AID)
iii) टेस्ट-ट्यूब बेबी (इन-विट्रो फर्टीलाइजेशन - IVF)
iv) गैमट इन-विट्रो फर्टीलाइजेशन ट्रान्सफर -GIFT
v) जाइगोट इन्ट्राफैलोपियन ट्रान्सफर - ZIFT

पति के शुक्राणुओं द्वारा कृत्रिम गर्भधारण :

लगभग 200 वर्ष पूर्व से इस विधि का उपयोग हो रहा है। पिछले बीस वर्षों से इस विधि में काफी प्रगति की है और नये-नये सुझाव सामने आये हैं। इसमें पति के शुक्राणु वाश करके, पत्नी के गर्भाशय में रखे जाते हैं (चित्र-2)। इस तकनीक की सफलता सिर्फ 10 से 15 प्रतिशत है। इसलिए वैज्ञानिक इस पद्धति के बारे में बहुत संतुष्ट नहीं हैं।

दानदाता क शुक्राणुओं स कृत्रिम गर्भधारण :

इस विधि में निम्न परिस्थितियों में पति के शुक्राणुओं के स्थान पर दाता के शुक्राणु प्रयुक्त होते हैं :
अ) जब, पति के शुक्राणु असामान्य हों।
ब) जब, पति के शुक्राणुओं की मात्रा कम हो।
स) दानकर्ता को लेकर पति-पत्नी दोनों की अनुमति हो।
द) दाता का नाम गुप्त रखा जाता है।

इस पद्धति की सफलता भी 10 से 15 प्रतिशत ही है। इसमें पति के शुक्राणु पुनरुत्पादन के लिए अनुपयोगी होने पर, वीर्यदाता से शुक्राणु लेकर पत्नी के गर्भाशय में रखे जाते हैं। दाता संपूर्ण निरोगी, व्यसनमुक्त होना चाहिए (जैसे मदिरापान, ड्रग्स इत्यादि)। वैज्ञानिक दृष्टि से सरल होने के कारण AIH और AID दोनों तकनीकों का बहुत सालों से प्रयोग किया जाता रहा है।

इन विट्रो फर्टीलाइजेशन :

इस तकनीक में पत्नी के शरीर से डिंब निकाल कर प्रयोगशाला में पहले ही निकाले हुए (स्पर्म वाश के बाद) शुक्राणुओं से मिलन कराते हैं। निषेचन के लिए उसे 48 घंटे प्रयोगशाला में रखकर देखभाल करते हैं। बाद में तैयार हुआ फलित (निषेचित) डिंब गर्भाशय में रखा जाता है। यही 'टेस्ट-ट्यूब बेबी' (चित्र-3) है।

1978 में इंग्लैंड में पहली बार लुसी-ब्राऊन नाम की बेबी ने इस तकनीक से जन्म लिया। इसके बाद 1984 में (छः बरस बाद) भारत में टेस्ट-ट्यूब बेबी पैदा हुई। इस पद्धति में वैज्ञानिकों को 20 प्रतिशत सफलता मिली। संतानहीन दंपतियों को यह 'जादू का आईना' जैसा लगने लगा। लेकिन इसमें पैसा पानी जैसा बहाना पड़ता है। जानवरों में इस पद्धति का इस्तेमाल बीस बरस पहले ही किया गया था। इस तकनीक में जैविक पुनरुत्पादक और उसके लिए सज्जित प्रयोगशाला की आवश्यकता होती है, इसलिए पैसा ज्यादा लगता है।

अ) महिला रोग विशेषज्ञ :

स्त्री-डिंब बाहर आये इसके लिए उचित दवा देना तथा सब तरह की तैयारी पहले से करना, फलित डिंब

गैमट इन्ट्राफैलोपियन ट्रान्सफर

टेस्ट-ट्यूब तकनीक के चार-पाँच साल बाद डॉक्टरों ने इस तकनीक को खोजा। इसका नाम रखा गया – 'गिफ्ट'। शुरु में इस तकनीक में शल्यचिकित्सा होती थी। लेकिन शल्यचिकित्सा एक बार ही संभव है और पैसा भी ज्यादा लगता है। इससे स्त्री को शारीरिक, मानसिक और आर्थिक तकलीफ अनुभव होती है। सभी कमियों को दूर करने की दिशा में डॉक्टरों का ध्यान गया। फलस्वरूप लैप्रोस्कोपी का प्रयोग प्रारंभ हुआ। इसमें पेट पर एक छोटा सा छेद करके सूक्ष्मदर्शी द्वारा जांच की जाती है। इस तकनीक में 20 से 25 % कामयाबी होती है। ऑस्ट्रेलिया में 1985-86 में, डॉ. जेनसन और डॉ. एंडरसन ने पैसे की बचत और जटिलता कम करने का रास्ता खोजा। यही तकनीक है गिफ्ट जो 1989 में 'सुलभ गिफ्ट' के नाम से प्रचलित हो गया।

इसमें दवाइयां देकर स्त्री-डिंब परिपक्व किये जाते हैं। उसके बाद सोनोग्राफी द्वारा जांच करके सोनोलेप्रोस्कोपी से डिंबों को बाहर निकालते हैं। उसके बाद पति के वाश किये हुए शुक्राणुओं के साथ गर्भाशय नलिका में डिंब रखे जाते हैं जहां उनका नैसर्गिक मिलन होता है (चित्र-4)।

'सुलभ गिफ्ट' की विशेषताएं :

अ) महिला को अस्पताल में रहने की जरूरत नहीं।
ब) ऐनास्थेसिया की जरूरत नहीं होती।
स) अन्य तकनीकों की तुलना में पैसा कम लगता है।
द) हमारे देश में अधिकांशतः स्त्रियों की गर्भाशय-नलिकाएं अच्छी होती हैं।
क) टेस्ट - ट्यूब बेबी तकनीक से इसकी कामयाबी की संभावना ज्यादा है।

जिस औरत की गर्भाशय नलिकाएं काम नहीं करतीं, अकार्यक्षम हैं, या ऑपरेशन से निकाली गयी हैं, उनके लिए टेस्ट-ट्यूब बेबी आखिरी पर्याय है। टेस्ट-ट्यूब की अपेक्षा इस तकनीक में शारीरिक, मानसिक और आर्थिक तकलीफ कम होती है। कामयाबी का प्रतिशत भी अधिक है। यह सही मायने में एक उपहार (गिफ्ट) है।

जाइगोट इन्ट्राफैलोपियन ट्रान्सफर

इस तकनीक में स्त्री-डिंब और शुक्राणु के कृत्रिम सम्मिलन के 48 घंटे बाद उसे अंदर गर्भाशय नलिका में रखा जाता है। फलित डिंब को जाइगोट कहा जाता है (चित्र-5)। जिन महिलाओं में 'गिफ्ट' तकनीक सफल नहीं होता, उनके लिए 'टेस्ट ट्यूब बेबी' तकनीक से भी बहुत आसान और अधिक सफलता की संभावना वाला 'जिफ्ट' तकनीक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसमें 'गिफ्ट' से थोड़ा ज्यादा खर्चा आता है किंतु कामयाबी टेस्ट ट्यूब बेबी तकनीक से ज्यादा मिलने की संभावना होती है।

'ज़िफ्ट' की विशेषताएं :

अ) यह 'टेस्ट ट्यूब बेबी' तकनीक से बहुत आसान है।
ब) सफलता की दर 40-50% है, जो IVF तकनीक से दुगनी है।
स) इसके माध्यम से स्त्री की मात्र एक गर्भाशय नलिका सामान्य होने पर भी गर्भ ठहर सकता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है। जिस महिला की गर्भाशय नलिकाएं अक्षम हो गयी हों उस स्थिति में 'जिफ्ट' तकनीक का उपयोग नहीं किया जा सकता तो ऐसे में IVF तकनीक (टेस्ट ट्यूब बेबी) ही एकमात्र पर्याय रह जाता है। किंतु इसका चुनाव तब ही करना चाहिए जब यह अच्छी तरह निश्चित हो जाये कि 'गिफ्ट' और 'ज़िफ्ट' का उपयोग नहीं किया जा सकता। दोनों ही 'गिफ्ट' और 'जिफ्ट' पद्धतियों में दंपति का आर्थिक, शारीरिक और मानसिक बोझ अपेक्षाकृत कम रहता है। लंबे समय तक महिला को अस्पताल में रहन की जरूरत भी नहीं होती।

'सुलभ गिफ्ट' और 'जिफ्ट' के मूल आधार :

1) पुनरुत्पादन-जैविक प्रयोगशाला।
2) डॉक्टरों का दल [(अ) महिला रोग विशेषज्ञ, (ब) पुनरुत्पादन जैवशास्त्री तथा स) सोनोलॉजिस्ट।]

(गैमट, जायगोट या भ्रूण) गर्भाशय व गर्भाशय नलिका में पहुंचाना, मासिक स्राव के 15 दिनों में गर्भधारण के लिए उपचार करना इत्यादि काम महिला रोग विशेषज्ञ को करने होते हैं।

ब) पुनरूत्पादन-जैवशास्त्री :

स्त्री-डिंब की जांच परख करना, पुरूष के वीर्य से धोकर (वाश) अच्छे शुक्राणु चयन करना तथा फलित डिंब को 36 से 48 घंटे तक संभाल के रखना आदि कार्य जैवशास्त्री करता है।

स) सोनोलॉजिस्ट :

सोनोलॉजिस्ट का काम भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। उसे पहले 15 दिन स्त्री-डिंब की वृद्धि पर ध्यान रखना होता है। सोनोग्राफी की मदद लेकर स्त्री-डिंब को बाहर निकालने का काम भी सोनोलॉजिस्ट ही करता है। गर्भाशय के माध्यम से गर्भाशय नलिका में स्त्री-डिंब रखते समय कैथेटर (सूक्ष्म नलिका) सही तरीके से अंदर जाती है या नहीं यह भी महिलारोग विशेषज्ञ को सोनोग्राफी के द्वारा मॉनीटर के पर्दे पर दिखाना पड़ता है।

इसके अलावा ऐनेस्थेसिया देने वाले डॉक्टर, नर्सों, मनोचिकित्सक आदि की सहायता भी लगती ही है।

वैसे देखा जाये तो अधिक आबादी का होना देश की एक भीषण समस्या है। लेकिन इसके साथ ही यह भी सच है कि ऐसे पति-पत्नियों की कमी नहीं जिनके बच्चे नहीं होते किंतु उन्हें अपने बच्चे की तमन्ना बनी रहती है। विडंबना यह है कि इन लोगों की आर्थिक हालत अच्छी नहीं होती। घर के बड़े-बूढ़े ताने कसते हैं। खासकर स्त्री की हालत बहुत खराब होती है, जैसे कि उसने बहुत बड़ा गुनाह किया हो। कुत्सित बोल, कुत्सित आँखों का साया हमेशा उस पर रहता है। ऐसी स्थिति में पति-पत्नी का जीवन एक अभिशाप बन जाता है। यहां तक कि औरत कभी-कभी आत्महत्या करने का भी प्रयास करती है। इस संदर्भ में महिला रोग विशेषण का दायित्व बहुत बढ़ जाता है। पति और पत्नी की अच्छी तरह जांच करके उसे उचित सलाह देनी चाहिए।

ट्रान्सपोर्टर या सैटेलाइट IVF :

ट्रान्सपोर्टर एक छोटा सा उपकरण है जिसमें स्त्री-डिंब या पुरुष वीर्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं। इसके उपयोग से बारबार पति-पत्नी को अस्पताल के चक्कर नहीं काटने पड़ते। 'गिफ्ट' और 'जिफ्ट' दोनों तकनीक उपयोगी और सफल होने पर भी इसमें बहुत से लोगों को साथ-साथ जुटना पड़ता है, जैसे महिला रोग विशेषज्ञ, पुनरुत्पादक जैविकशास्त्री, सोनोलॉजिस्ट आदि। इसके अलावा एक अच्छी और सुसज्जित वैद्यकीय प्रयोगशाला। इन सबका एक साथ मिलना सिर्फ बड़े शहरों में ही संभव है। बहुत हद तक इन सारी समस्याओं का हल ट्रान्सपोर्टर के प्रयोग से हो जाता है।

ट्रान्सपोर्टर के अभी प्रयोगशाला परीक्षण किये जा रहे हैं। नारी-डिंब को जितने तापक्रम की आवश्यकता होती है ट्रान्सपोर्टर के भीतर का तापक्रम उसी के अनुकूल होता है। अन्य देशों की अपेक्षा अपने देश में यह सस्ते में उपलब्ध होगा। कार बैटरी के उपयोग से भी इसका तापक्रम नियंत्रित किया जा सकता है।

उपचार का तरीका :

ट्रान्सपोर्टर के प्रयोग से दूर दराज के लोगों को बहुत फायदा होगा। फिलहाल, यह सुविधा बंबई के आसपास के लोगों को मुहय्या करायी जा रही है। शुरु में एक बार महिला को पूरी जांच के लिए बंबई आना पड़ता है। जिस दिन डिंब कोश से स्त्रीडिंब को बाहर आना होता है उस दिन उचित समय पर विशेषज्ञ उसके घर जाकर डिंब और पुरुष वीर्य (शुक्राणुओं के लिए) एकत्रित करके ट्रान्सपोर्टर में रख लेते हैं। चार-पांच घंटों में ट्रान्सपोर्टर बंबई ले आया जाता है। और पुनरुत्पादक जैवशास्त्री सूक्ष्मदर्शी की सहायता से डिंब की निषेचन क्षमता की जांच करता है। यदि डिंब सक्षम न हुआ तो महिला को सूचित किया जाता है। और फिर से पूरी क्रिया दोहरायी जाती है। इस तरह बंबई आने जाने का समय और पैसा व्यय नहीं होता। डिंब ठीक होने पर महिला को 72 घंटों के अंदर बंबई आना पड़ता है और निषेचित डिंब को महिला के गर्भाशय

(शेष पृष्ठ - 82 पर देखें)

टिप्पणियां

1. रजो ग्रहस्य निरावरण: एक नयी परिकल्पना

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जीव विज्ञान से संबंधित क्षेत्रों में अभूतपूर्व अनुसंधान हुए हैं । अत: यदि हम शताब्दी के इस कालांश को जीव विज्ञान का युग कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । जीवित वस्तुओं का साम्राज्य, जो सरल सूक्ष्म जीवाणुओं से प्रारंभ हो कर जटिलतम प्राणी जाति "मानव" पर समाप्त होता है, अपने में असंख्य जीव जातियों को समेटे हुए है । जीव वैज्ञानिकों एवं शारीरिक क्रिया वैज्ञानिकों के जीवन-जटिलताओं को जानने समझने के अनथक प्रयासों - जिनमें अध्ययन, प्रेक्षण एवं प्रायोगिक परीक्षण सम्मिलित हैं की सार्थकता इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि आज हम जीवन की कई पेचीदगियों की विवेचना, विज्ञान की भाषा में, प्रमाण सहित, कर सकते हैं । आज हम जान गये हैं कि जीवित वस्तुएं निर्जीव अणुओं द्वारा निर्मित होती हैं तथा इनमें (जीवित वस्तुओं) जटिल आंतरिक संरचनाए होती हैं । इन संरचनाओं की जटिलता का स्तर जीव जाति के विकास अनुक्रम में अग्रता के समानुपात में होता है ।

आज जनता साम्राज्यवाद के चंगुल से निकल कर स्वत:शासी हो गयी है, परिवहन एवं संचार के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन आने से दूरी, भाषा एवं क्षेत्रों की सीमाएं छोटी हो रही हैं तथा मनुष्य के पग 'विज्ञान के उपयोग से अपने स्वास्थ्य एवं जीवन का स्तर ऊंचा करने' की डगर पर बढ़ने लगे हैं । आज वैज्ञानिकों, बुद्धिजीवियों, यहां तक की नेताओं-राजनीतिज्ञों को भी, यह भान होने लगा है कि वैज्ञानिक अध्ययन-अनुसंधान का लक्ष्य केंद्र मात्र ज्ञानवर्धन नहीं अपितु मानवता का कल्याण होना चाहिए । विज्ञान पत्रकारिता से जुड़े जन भी सदुपयोगी विज्ञान अन्वेषणों एवं परिकल्पनाओं के प्रचार-प्रसार को उच्च प्राथमिकता दे कर अपने दायित्व का निर्वहन कर रहे हैं ।

कैसी विडंबना है कि 'फ्रांसिस बेकन' के इस कथन 'विज्ञान की भवितव्यता केवल मनुष्य का ज्ञान वर्धन ही नहीं अपितु धरती पर उसका जीवन भी सुधारना है' को हमारे मानस का अंश बनने में 'बरसों' लगे हैं । यही कारण है कि इन 'बरसों में हमने विज्ञान की इतनी विभीषिकाएं सही हैं ।

अनुसंधान-अध्ययन द्वारा उत्पादित यह परिकल्पना, जिसका मानव जीवन से गहन संबंध है, इसी प्रकार की वैज्ञानिक मनोदशा, धारणा एवं दिशा की परिचायक है।

क्रम विकास मापक्रम के शीर्ष स्थल पर विराजमान, उत्कृष्ट प्राणी, 'मानव' के अंग अवयव, क्रम विकास की प्राकृतिक चयन व्यवस्था से विकसित हुए हैं । शरीर के अंग-अवयवों-तंत्रों की कार्य सार्थकता एवं क्षमता का परिलक्षण एवं परिमाण, उनमें होने वाली बहुत सी रासायनिक अभिक्रियाओं का परिणामी होता है। इन रासायनिक अभिक्रियाओं का नियमन-नियंत्रण इतना जटिल, किंतु सुव्यवस्थित होता है कि अनथक-अनवरत वैज्ञानिक प्रयासों के बावजूद भी हम इन जटिलताओं को आंशिक सीमा तक ही समझ पाये हैं । इसलिए जैविक विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र में हो रहे अनुसंधान-अन्वेषण नित नयी संकल्पनाएं, नये आयाम लाते हैं ।

शोधपूर्ण अध्ययन-अनुसंधान पर आधारित, इसी प्रकार की एक परिकल्पना अमेरिकी क्रम विकास वैज्ञानिक, 'मार्गी प्रोफेट' ने स्त्रियों के रज:स्राव की सार्थकता को लेकर की है । उनके अनुसार रज:स्राव, जो हार्मोन निर्देशित मासिक चक्र की एक प्रावस्था है तथा अनिषेचित डिंब, गर्भाशय के अंत:स्तर के ऊतक एवं रक्त के रूप में प्रति माह होता है, स्त्रियों की सुरक्षा का विशिष्ट माध्यम है । महिलाओं में रज:स्राव प्रक्रिया का क्रम विकास, गर्भाशय एवं डिंबवाही नलिकाओं को उन सूक्ष्मजीवी रोगाणुओं के संक्रमण से सुरक्षित रखने हेतु हुआ है जो सामान्यत: पुरुष सहवास के दौरान स्थानांतरित शुक्राणुओं के साथ तथा, संभवत: अन्य कारणों से भी,

संक्रमणशील एवं भेद्य गर्भाशय में प्रवेश कर जाते हैं। प्रोफेट ने केलिफोर्निया विश्वविद्यालय बर्कले से प्रकाशित पत्रिका 'क्वाटरली रिव्यू ऑफ बायोलोजी' के सितंबर, 1993 अंक के अधिकांश भाग में रज:स्राव प्रक्रिया की संबद्धता का सुविस्तृत स्पष्टीकरण दिया है जो अब तक के स्वीकार्य मत और धारणाओं के सर्वथा विपरीत है। रज:स्राव, स्त्रियों के शरीर में पीयूष ग्रंथि जनित गोनेडोट्रोफिन तथा अन्य नलिकाविहीन ग्रंथियों से स्रावित हार्मोन चक्र का कष्टप्रद एवं अनावश्यक उपोत्पादक माना जाता है। चिकित्सा शास्त्री अब तक रजो रक्त के संक्रमण माध्यम बन जाने की आशंका से, इस अवधि में स्त्रियों में रोग संक्रमण की प्रबल संभावना होने के मत का समर्थन करते चले आ रहे हैं। परंतु प्रोफेट इस मत का प्रबल प्रतिकार करते हुए कहती हैं कि रज:स्राव से संक्रमण होने की बात अग्नि शामक के अग्निदाहक होने की बात जैसी है। क्योंकि रज:स्राव तो शरीर के संभावी संक्रामक जीवाणुओं के विरुद्ध द्विभुजीय रणनीति अपना कर, सुरक्षा प्रदान करता है। एक ओर तो संक्रमण सूक्ष्मजीवियों के शरणस्थल गर्भाशय के ऊपरी अस्तर के ऊतक को उतार कर तथा, दूसरी ओर उस समूचे क्षेत्र को जीवाणु नाशक प्रतिरोधी कोशिकाओं (मेकरोफाजेस) युक्त रक्त से निमज्जित कर। प्रोफेट के शोध के अन्य तर्क यह हैं कि रज:स्राव में रक्त, ऊतक एवं मूल्यवान पोषक तत्व लौह का नियमित क्षय होता है अत: यह कष्टप्रद एवं शरीर के पोषक तत्वों को न्यून करने वाली प्रक्रिया निस्हेश्य नहीं हो सकती अन्यथा क्रम विकास की प्राकृतिक चयन व्यवस्था इसे बरसों पहले विलुप्त कर चुकी होती। इसका चिरस्थायी होना इसकी सोद्देश्यता का प्रमाण है। इसी तरह असमय एवं अत्यधिक रक्तस्राव होने की स्थितियों में जैसे डिंबक्षरण (आवुलेशन), भ्रूण रोपण एवं प्रसवोत्तर अवस्थाओं में, संक्रमण की प्रबल संभावना को निरस्त करने के लिए, तथा आई.यू.डी. (इन्ट्यूटिराइन डिवाइसिज) गर्भ निरोधक साधनों से होने वाले गर्भाशय प्रदाह से शरीर को संक्रमण का भ्रम हो जाने से क्रमशः असमय तथा असाधारण रक्त स्राव होता है।

गर्भावस्था एवं रजोनिवृति में रज:स्राव न होने का कारण गर्भाशय ग्रीवा के प्रवेश स्थान का गाढ़े श्लेष्मा से ढके रहने के सूक्ष्मजीवी जीवाणुओं की न्यूनतम संभावना होना है।

अपनी प्राक्कल्पना के पक्ष में 'प्रोफेट' ने इलेक्ट्रॉन सूक्ष्मदर्शक द्वारा गर्भाशय में शुक्राणुओं से सटे सूक्ष्म जीवाणुओं की उपस्थिति दर्शाई है। इसके अतिरिक्त रजरक्त में रक्त का थक्का जमने वाले कारकों की अनुपस्थिति तथा विशिष्टतम प्रतिरोधक कोशिकाओं (मेकरोफाजेस) की उपस्थिति के प्रमाण प्रस्तुत कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रज रक्त की यह विशिष्टताएं उसे सूक्ष्मजीवी संक्रमण निरोधक क्षमता प्रदान करती है। इसी तरह प्रोफेट ने गर्भाशय में विशिष्ट सर्पाकार रक्तवाहिनी धमनियों के होने की भी पुष्टि की है, जिनकी श्रृंखलाबद्ध अंतराल से होने वाली संकुचन और ढील, रज:स्राव का समय निश्चित करती है। अर्थात् ये सिकुड़ कर गर्भाशय की तली की कोशिकाओं की रक्त आपूर्ति अवरुद्ध करके उनके नष्ट होने का मार्ग प्रशस्त करती हैं तथा एक विशेष अंतराल पर पूर्ण [illegible] फैलकर, नष्ट हुई कोशिकाओं एवं सूक्ष्मजीवी रोगाणुओं को रक्तस्राव में बहाकर, प्रतिरक्षण कार्य करती हैं।

यदि 'मार्गी प्रोफेट' के रज:स्राव संबंधी मत की वैधता सत्य हो जाती है तो चिकित्सकों द्वारा असमय अथवा अत्यधिक रज:स्राव को हार्मोन विकार समझकर दी जाने वाली हार्मोन उपचार प्रणाली का पुनर्वलोकन करना भी आवश्यक हो जाएगा। क्योंकि नये मत के अनुसार इस प्रकार के स्राव गर्भाशय के संभावित संक्रमण के सूचक एवं प्राकृतिक प्रतिरोधक होते हैं। अतः इन्हें रोकने के स्थान पर प्रतिजैविक औषधियों से उपचार अधिक प्रभावी हो सकेगा।

यह महिला वैज्ञानिक, जिन्हें उनके विज्ञान में परंपरा से हटकर प्रगतिशील अनुसंधान करने के लिए गत वर्ष 25,000 डॉलर का मेकआर्थर जीनियस पुरस्कार प्रदान किया गया है, कहती है कि इस सिद्धांत की अनुप्रेरणा उन्हें पांच वर्ष पहले तब मिली जब उन्हें दो

दशक पहले 'मासिक चक्र' पर देखी शैक्षणिक फिल्म की स्वप्न स्मृति हुई। वहीं से इस विषय पर चिंतन और अनुसंधान का सिलसिला प्रारंभ हुआ जो अंततः इस परिकल्पना का रूप ले बैठा। बहुत वर्ष पहले बैन्ज़ीन नामक कार्बनिक पदार्थ की रासायनिक संरचना का अन्वेषण करने वाले वैज्ञानिक "कैकुले" को भी इसी प्रकार के स्वप्न संकेत, सर्पाकार आकृतियों के रूप में, मिले थे। सारा विश्व जानता है कि इस अन्वेषण ने कार्बनिक रसायन को नये आयाम दिये थे।

प्रोफेट द्वारा सुझाया गया मत वैज्ञानिक परीक्षणों की कसौटी पर कैसा उतरता है, यह तो भविष्य ही बतायेगा परंतु यह कहना पड़ेगा कि इस वैज्ञानिक ने स्त्री जीवन की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया की वैज्ञानिक प्रयोगों, क्रम विकास के तथ्यों एवं गहन अध्ययन चिंतन से प्रतिपादित तर्कों के आधार पर एक अलग विवेचना की है जो कि एक सराहनीय प्रयास है।

यह भी आवश्यक है कि संबंधित वैज्ञानिक समुदाय का दृष्टिकोण इस परिकल्पना के प्रति जो कि स्वीकृत मत से मेल नहीं खाता-उदारवादी हो तथा वह इसे समय और प्रयोगों की कसौटी पर परख कर स्वीकार अथवा अस्वीकार करें। क्योंकि महान दार्शनिक 'बर्ट्रेंड रसेल' ने कहा है कि 'हम में किसी सर्वोत्तम परिकल्पना पर हठधर्मी से विश्वास किये बिना उसके अनुसार कार्य करने की प्रवृति होनी चाहिए।' तभी हमारा मनो मस्तिष्क पुराने मतों की फांस से स्वतंत्र हो कर सत्य का अभिसार करने की स्थिति में होगा। अर्थशास्त्री केयनज़ के शब्द, "कठिनाई नये विचारों को अपनाने में नहीं होती, कठिनाई तो दिलो-दिमाग के हर कोने में विराजमान पुराने विचारों से पीछा छुड़ाने में होती है", विज्ञान के संदर्भ में आज भी उतने ही सटीक और सच्चे हैं।

शील शर्मा

व्याख्याता, जैव रसायन एवं पोषण विज्ञान,
2- विवेकानंद आवास,
विश्वविद्यालय मान्य संस्थान परिसर,
वनस्थली विद्यापीठ (राजस्थान) - 304 022.

2. प्लेग का अस्तित्व : एक पुनरावलोकन

प्लेग की पहली विश्वव्यापी महत्वपूर्ण घटना छठी शताब्दी के मध्य में एशिया में घटी थी। तब प्लेग अरब से मिस्र तक फैल गया था। इसके पश्चात 60 वर्षों में इस रोग ने एक अरब लोगों की जान ली जो इन देशों की लगभग आधी थी (फैनस, 1978 और जिगलर, 1969)। इसके बाद यह रोग लगभग विलुप्त सा हो गया लेकिन 11 वीं शताब्दी और इसके बाद दूसरा मानव विनाश योरप में हुआ। तत्पश्चात यह रोग पूर्व की ओर बढ़ने लगा था, इरान और चीन तक पहुंच गया। 1348 में यह रोग ब्रिटेन में उभर कर सामने आया और लगभग 3 सालों में इसने वहां की एक तिहाई जनता (1 करोड़ 50 लाख) को मौत के घाट उतार दिया तथा करीब 200 वर्षों तक वहां की जनसंख्या अपने पूर्व के स्तर पर न पहुंच सकी। लगभग ढाई शताब्दी तक यह रोग गायब रहा। इस कारण योरप में इस रोग को कम महत्व दिया जाने लगा। प्लेग 1664-65 में लंदन में उभर कर सामने आया और एक लाख पचास हजार लोगों की जानें ले गया। यहां इस रोग का एक नाम पड़ा ब्लैक डेथ अर्थात काली मृत्यु। इसके बाद योरप में 25 करोड़ लोग मरे तथा 1855 में यह चीन तथा 1894 में हाँग काँग तथा इसके पश्चात के चार वर्षों में यह पूरे विश्व में फैल गया और करोड़ों लोगों की मृत्यु हुई।

भारत में 1896 से 1948 तक करीब 12 करोड़ लोगों को यह रोग निगल गया। इसका प्रमुख कारण हम भारतीयों की गरीबी, अंधविश्वास और देश की परतंत्रता की वजह से वैज्ञानिक ज्ञान व दवाओं का अभाव था। प्लेग, यर्शिनिया पेस्टिस् (पास्टरैला पेस्टिस) नामक जीवाणु द्वारा होता है। यह रोग वास्तव में जंगली रोडेन्टस् और उनके पिस्सुओं (फ्लीस्) में होता है। लेकिन बदलती परिस्थितियों में यह मनुष्य पर पाया जाता है। संभवतः यह रोग मध्य एशिया में उद्भव हुआ और धीरे-धीरे पूरे विश्व में फैल गया। पूरे विश्व में रोडेन्टस् (चूहा, खरगोश व गिलहरी जैसे जानवर) की लगभग 200 प्रजातियां पायी

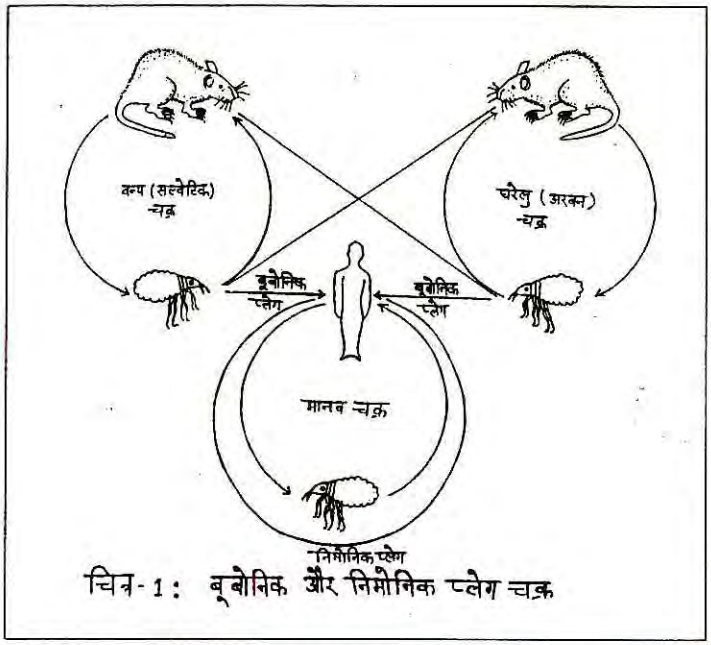

चित्र-1: बूबोनिक और निमोनिक प्लेग चक्र

जाती हैं, जिनमें पिस्सु की लगभग 124 प्रजातियां प्लेग से जुडी हैं। 10-15% स्तनधारी पिस्सु के पोषद का कार्य करते हैं। रोडेन्टस् में कुछ रोग प्रतिरोधक होते हैं। इसके अलावा कुछ कीटभक्षी, माँसाहारी (श्रयुस, बिल्ली, नेवला, कुत्ता आदि) तथा पक्षियों में भी पिस्सुओं द्वारा जीवाणु फैलाये जाते हैं।

प्लेग के चक्र का संबंध चार प्रमुख प्रकार के जीवों से है :

1. जीवाणु (यर्शिनिया पैस्टिस = पास्टूरैला पैस्टिस्)
2. पिस्सु (जिनोप्सैला चियोपिस)
3. रोडेन्ट (चूहा, खरगोश व गिलहरी जैसे जानवर)
4. मनुष्य (होमो सेपियन्स)

प्लेग का जीवाणु पिस्सु के द्वारा स्थानांतरित किया जाता है। यह पिस्सु चूहे पर बाह्य परजीवी के रुप में पाया जाता है और इसका वेक्टर कहलाता है। परजीवी पिस्सु अपने पोषद (रोडेन्ट) का खून चूसता है और प्लेग के जीवाणु उसके खून में प्रवाहित कर देता है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। अपने पोषद की मृत्यु होते ही पिस्सु उसके शरीर को छोड़ देता है और किसी अन्य रोडेन्ट या मनुष्य पर आक्रमण कर देता है। मनुष्य में यह दो प्रकार का प्लेग फैलाता है। पहला बूबोनिक और दूसरा निमोनिक। ये दोनों प्लेग, प्लेग चक्र पर निर्भर करते हैं। प्रथम चक्र में जंगली रोडेन्टों के पिस्सु प्लेग के जीवाणु इन्हीं जीवों में फैलाकर इनकी मृत्यु का कारण बनते हैं और नये पोषकों पर आक्रमण करते हैं। दूसरे चक्र में घरेलू चूहों पर पिस्सु द्वारा प्लेग के जीवाणु को प्रवाहित करने से चूहों का प्लेग से मरना तथा नये चूहों पर पिस्सुओं पर आक्रमण करना। इन दोनों चक्रों में जब पोषकों की कमी होने लगती है तो ये पिस्सु मनुष्य का खून चूसने हेतु इन पर स्थानांतरित हो जाते हैं तथा उपरोक्त दोनों चक्रों से मनुष्य में बूबोनिक प्लेग होता है (चित्र-1)। जब प्लेग के जीवाणु संक्रमण द्वारा अथवा पिस्सु द्वारा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य पर संक्रमित हों तो ये निमोनिक प्लेग उत्पन्न करते हैं। घरेलू चक्र में पिस्सु कुत्ते, बिल्ली, गिलहरी, खरगोश इत्यादि अन्य जानवरों पर भी आक्रमण कर देते हैं। पिस्सु आकार में 3-5 मिमी. का होता है तथा इसका शरीर पिचका हुआ, शरीर पर पंख अनुपस्थित होते हैं तथा वह कूद कर गमन करता है। पिस्सु की लगभग 200 प्रजातियां जगंली रोडेन्टस्, पक्षियों व स्तनधारियों पर बाह्य परजीवी के रुप में पायी जाती हैं। कुछ महत्वपूर्ण पोषद और उनके ऊपर परजीवी पिस्सु तालिका-1 में दिये गये हैं।

जिनौप्सैला चियोपिस प्लेग का महत्वपूर्ण वाहक है इसके निम्नलिखित कारण हैं :

(क) यह प्रजाति घरेलू रोडेन्ट से निकट संबंध रखती है तथा ग्रामीण क्षेत्र इसके लिए उपयुक्त है। इसके साथ-साथ यह कुछ हद तक मनुष्य पर पोषण करती है। (ख) यह कुछ समयांतराल से खून चूसता है। (ग) 50% यह संक्रमित जंतु आसानी से 10-45 दिनों में पिस्सु में अवरोध उत्पन्न करता है और कभी-कभी 2 महीने भी लग जाते हैं। (घ) संक्रमित जंतु लगभग 10 दिन के अंदर

तालिका -1 कुछ महत्वपूर्ण पोषद और उन पर पाये जाने वाले परजीवी पिस्सु

पोषद	पिस्सु की प्रजातियां
खरंगोश	सीडियोप्सैला सिम्पलैक्स
	ओडोन्टोप्सैला
	मल्टीस्पाइनोसस्
	स्पाइलोप्सैला यूनीकूली
चूहा	जिनौप्सैला चियेपिस
	नोसोप्सैला फेसियेटस
मनुष्य	प्लैक्स इरीटैन्स
मुर्गा	क्रेटाफाइलस गैलीनैय
कुत्ता व बिल्ली	टीनोसिफैलिड्स फैलिस
	टीनोसिफैलिड्स कैनिस
बकरी	टीनोसिफैलिड्स प्रजाति
चमगादड	इसनोप्सैलस और
	नौक्टीरिडोप्सैल प्रजातियां
वोल्स (रोडेन्ट)	मालारेपियस, मैगोबोद्ररिस
मुरीन (रोडेन्ट)	नोसोप्सैलस
लोमड़ी	वल्पस प्रजाति

मर जाता है और जो इसके बावजूद जिंदा रहता है तो इस संक्रमित जंतु को अपने जीवन में वहन करता है।

एक संक्रमित पिस्सु अपने पोषद को काटने पर 24,000 पास्टूरैला पेस्टिस जीवाणु मनुष्य या चूहे में प्रवाहित कर देता है। जिनोप्सैला चियोपिस जो खून चूसता है उसमें यर्शिनिया पेस्टिस क्वागुलेशन उत्पन्न करता है जिससे फाइब्रिन बनता है इसमें जिनोप्सैला अपनी आहार नाल से ट्रिप्सिन जैसा इन्जाइम स्रावित करता है। इसकी मदद से जीवाणु तीव्र गति से प्रजनन करता है। प्रजनन के लिए जीवाणु को 23.5 ^{0}C तापमान की आवश्यकता होती है। इससे पिस्सु की आहार नाल में अवरोध उत्पन्न होता है, साथ ही यह अपने आंप को भूखा और प्यासा महसूस करने लगता है। इसी वजह से इसकी गति और पोषद से बार-बार खून चूसने की प्रवृत्ति में वृद्धि हो जाती है।

प्लेग को फैलने से रोकने के लिए कीटनाशकों का छिड़काव व धुंआ करना चाहिए.। इसके साथ ही चूहों को जिंदा पकड़कर कर पालीथीन में बंद करके दबा देना चाहिए। घरों में उपस्थित कुत्ते, बिल्ली और अन्य जानवरों पर भी कीटनाशकों के छिड़काव का प्रबंध करना चाहिए। घरों में फर्श पर भोजन व पानी न गिरने देना चाहिए। खाने-पीने की वस्तुओं को ढक कर रखना चाहिए। अतः घरों व बस्तियों की सफाई और सीवेज का अच्छा प्रबंध होना चाहिए। आंजकल घरों में वैक्यूम क्लीनर के द्वारा कुछ हद तक इन पिस्सुओं को कम किया जा सकता है। यदि रोग की संभावना हो तो तुरंत ट्रेट्रासाइक्लीन व सेप्ट्रान जैसी जीवाणुनाशक गोलियां एतिहात के तौर पर लेनी चाहिए और विशेषज्ञ से सलाह लेनी चाहिए। रोगी के कपड़े तौलिया इत्यादि प्रयोग में न लायें और इन्हें गर्म पानी से धोना चाहिए। रोग फैलने का एक प्रमुख कारण लोगों का पलायन करना भी है। इस पर प्रतिबंध लगाना चाहिए।

प्लेग से न केवल मानव अपितु हमारी वन्य संपदा भी प्रभावित होती है। प्लेग को फैलाने में पिस्सु की भूमिका महत्वपूर्ण है क्योंकि यह की वेक्टर के रूप में जीवाणुओं के वाहन का काम करता है। प्लेग के इस वेक्टर पर भारतवर्ष में अनुंसधान कार्य न के बराबर हुए हैं। सिर्फ डॉ. जी. पी. अग्रवाल, बनारस हिंदु विश्वविद्यालय तथा डॉ. ए. के. सक्सेना, राजकीय महाविद्यालय ऋषिकेश और उनके सहयोगी अनुसंधान कर्ता समूह ने इस वेक्टर की जनसंख्या व पारिस्थितिकी से संबंधित आंकड़े विभिन्न पालतू पशुओं पर एकत्रित किये हैं। 1994 में भारत में फैले प्लेग ने एक बार फिर यह संकेत कर दिया है कि बदलते हुए परिवेश में प्लेग का खतरा भी बढ़ता जा रहा है और इस दिशा में अभी और महत्वपूर्ण वैज्ञानिक जानकारियां हासिल करने की आवश्यकता है।

डॉ. आदेश कुमार

परजीवी शोधशाला, जन्तु विज्ञानविभाग,
पं. ल. म. श. राजकीय महाविद्यालय, ऋषिकेश

3. हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में कंप्यूटर का प्रयोग

कंप्यूटर में असीम क्षमता है और क्षमता शब्द ही इस बात का द्योतक है कि इसके प्रयोग की संभावनाएं असीम हैं । कंप्यूटर का स्वरूप, इस पर उपलब्ध जनोपयोगी सॉफ्टवेयर तथा इसकी घटती दरों ने आज इसे घर-घर में पहुंचा दिया है । देश में कंप्यूटर का प्रयोग सार्थक हो, शैक्षिण दृष्टि से उपयोगी हो और समानता के अधिकारों को प्रतिपादित करे, इसके लिए कंप्यूटर का प्रयोग भारतीय भाषाओं में संभव होना चाहिए और ये कठिन भी नहीं - क्योंकि कंप्यूटर स्वयं तो एक इलेक्ट्रॉनिक मशीन है जो द्विआधारी संख्या पद्धति पर आधारित है और केवल इलेक्ट्रॉनिक संकेतों को समझ सकती है, फिर वह कहां भाषा की परिधियों से बंधी है ?

कंप्यूटर का प्रयोग भारतीय भाषाओं में हो सके, इसके लिए आवश्यक है कि –

– समुचित सॉफ्टवेयर का विकास हो
– भारतीय भाषाओं में सभी प्रकार के सॉफ्टवेयर की बहुतायत से उपलब्धि हो और
– इस विषय पर भारतीय भाषाओं में पाठ्य सामग्री का विकास हो ।

हार्डवेयर के विकास से तात्पर्य उन इनपुट-आउटपुट युक्तियों से है जो हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का प्रयोग संभव बनायें । सी-डेक, पुणे द्वारा विकसित जिस्ट (GIST) प्रौद्योगिकी ने एक सीधा और प्रथम चरण इस दिशा में उठा लिया है ।

जिस्ट कार्डों और जिस्ट टर्मिनलों के प्रयोग द्वारा प्रचलित सॉफ्टवेयर जैसे डीबेस, वर्डस्टार, तथा कई प्रोग्रामन भाषाओं में स्थानीय भाषाओं में इनपुट-आउटपुट की सुविधा हो गयी है । जिस्ट के आविर्भाव ने जो क्रांतिकारी परिवर्तन इस दिशा में लाये उनमें से कुछ हैं -

- विभिन्न शब्द संसाधकों द्वारा हिंदी में कार्य
- प्रकाशन में देवनागरी के विभिन्न fonts (DTP)
– भारतीय भाषाओं में विभिन्न डाटा बेस का विकास ।

कंप्यूटर के प्रयोग को आम भारतीय अपनी पहुंच के अंदर समझे, इसके लिए इस विषय पर बहुतायत में भारतीय भाषाओं में पाठ्य सामग्री का विकास महती आवश्यकता है । पुस्तकें समाज का दर्पण होती हैं और किसी विषय पर केवल अंग्रेजी में ही पुस्तकों की उपलब्धता, पाठकों की विषय के प्रति सोच को संकुचित कर देती है । यद्यपि समय-समय पर इस ओर प्रोत्साहन हेतु भारत सरकार ने विभिन्न वित्तीय सहायता व पुरस्कार योजनाएं प्रारंभ की हैं, तथापि इस दिशा में प्रयत्न कम ही हुए हैं । वनस्थली विद्यापीठ के इस दिशा में प्रयास का फल "वनस्थली ग्रंथ माला" है (अधिक सूचना के लिए लेखिका से संपर्क करें) ।

पाठ्य पुस्तकों के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि औपचारिक शिक्षा में कंप्यूटर का स्वाभाविक समावेश हो । आज जब कंप्यूटर अपनी क्षमताओं के कारण दैनंदिन कार्यों का अभिन्न अंग है तो बालक को सर्वांगीण शिक्षा के उद्देश्य में लेखन, वाचन और गणितीय कौशलों के साथ कंप्यूटर पर कार्य करना भी आना चाहिए । इसके लिए शिक्षा के क्षेत्र में दो विभिन्न प्रकार के कार्यों की आवश्यकता है :

अ) कंप्यूटर के बारे में शिक्षा तथा
ब) कंप्यूटर की सहायता से अधिगम-शिक्षण प्रक्रिया की प्रभावकता को यथासंभव बढ़ाना ।

जहां प्रथम बिंदु पर देश भर में प्राथमिक स्तर से ही कंप्यूटर शिक्षा के समावेश की होड़ लगी है वहीं दूसरे बिंदु पर शिक्षाविदों ने अभी गंभीरता पूर्वक विचारा नहीं है । यद्यपि कंप्यूटर को अधिगम-शिक्षण पक्रिया में सम्मिलित करके विद्यार्थी की सृजनात्मक क्षमताओं में आश्चर्चजनक वृद्धि संभव है । इस हेतु भी उचित प्रगति के रास्ते में मुख्य बाधाएं हैं, यथा शिक्षण प्रशिक्षण तथा उचित सॉफ्टवेयर का अभाव ।

इस दिशा में प्रयास हेतु भारत सरकार, इलेक्ट्रॉनिक विभाग ने 1991 में कतिपय संस्थाओं को कंप्यूटर की सहायता से अधिगम-शिक्षण विकास केन्द्र (CAT

Resources Centre) प्रायोजनाएं स्वीकृत की थी, जिनमें वनस्थली विद्यापीठ भी एक है। इन संस्थाओं की सूची निम्न है।

वनस्थली विद्यापीठ
वनारस हिंदू विश्वविद्यालय
कोचीन विश्वविद्यालय
श्री लाल वहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नयी दिल्ली

भाषा शिक्षण हेतु सॉफ्ट वेयर विकास

(विदेशियों को हिंदी शिक्षण हेतु सॉफ्ट वेयर)
केंद्रीय हिंदी संस्थान
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, नयी दिल्ली

(संस्कृत शिक्षण हेतु सॉफ्ट वेयर)
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली
श्री लाल वहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नयी दिल्ली

(प्राथमिक स्तर पर हिंदी व्याकरण शिक्षण हेतु प्रबुद्ध शिक्षकीय तंत्र 'प्रबोध')
वनस्थली विद्यापीठ

प्राथमिक स्तर से ही बालक और प्रत्येक बालक कंप्यूटर का आवश्यकतानुसार प्रयोग कर सके और उसे ये सुविधा उपलब्ध हो, इस सपने को साकार करने में देश की आर्थिक स्थिति से भी अधिक महत्वपूर्ण बाधा है कंप्यूटर का प्रयोग केवल अंग्रेजी भाषा तक ही सीमित होना। जब लगभग विश्व के चालीस देशों में कंप्यूटर की भाषा उनके देश की भाषा है तो भारत में ऐसा क्यों नहीं है ? इस दिशा में ठोस कार्य की जरूरत है।

इसके लिए यह भी आवश्यक नहीं कि हम नये सिरे से भारतीय भाषाओं के मशीन अनुवादक अथवा ऑपरेटिंग सिस्टम और अन्य सभी सॉफ्टवेयर तैयार करें। हम यदि केवल यांत्रिक दुभाषिये बना लें, जिससे हम अपनी भाषा में जो लिखें, यांत्रिक दुभाषिया उसका किसी प्रोग्रामन भाषा (जैसे सी., पास्कल, बेसिक आदि) में अनुवाद करे और फिर कंप्यूटर उस कार्य को निष्पादित कर सके तो कम समय में लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है।

इस ओर एक प्रयास विद्यापीठ की छात्राओं द्वारा भाभा परमाणु अनुंसधान केंद्र के डॉ. सुशील कटारिया के निर्देशन में किया गया है।

सार रूप में हमें, भारतीयों को, आवश्यकता है अपने सोच को नया मोड़ देने की और हर संभव प्रयत्न करने की, जिससे विज्ञान एवं तकनीकी का सदुपयोग आम भारतीय निस्संकोच कर सकें।

डॉ. रेखा गोविल

कंप्यूटर विज्ञान एवं इलेक्ट्रॉनिकी विभाग,
वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली (राज) 304 022

❐❐❐

कृत्रिम गर्भधारण . . . *(शेषांश)*

में स्थापित किया जाता है। इस विधि में ऐनेस्थिया की जरूरत नहीं होती और महिला तुरंत घर जा सकती है।

ट्रान्सपोर्टर के उपयोग के लाभ :

(अ) स्थानीय डॉक्टर और विशेषज्ञ अपने गांव या कस्बे में ही दंपति से संपर्क रखते हुए महिला के मासिक-चक्र आदि की संपूर्ण जानकारी जमा कर सकते हैं तथा डिंब और वीर्य ट्रान्सपोर्टर द्वारा भेज सकते हैं।

(ब) केवल बहुत आवश्यक होने पर महिला को अपने घर से बंबई आना पड़ता है। खर्चा और यातायत कम होने से दंपति का धैर्य काफी बढ़ जाता है। ऐसी प्रयोगशालाएं बंबई में 5-6 हैं पर ट्रान्सपोर्टर के प्रयोग से बंबई के आसपास के क्षेत्रों जैसे नासिक, पुणे, कोल्हापुर आदि के लोगों को बहुत लाभ पहुंचेगा।

पिछले बीस वर्षों से चिकित्सा के क्षेत्र में कॉर्डियोलॉजी आदि शाखाओं के विकास से कृत्रिम गर्भधारण तकनीक में भी काफी प्रगति हुई है। इसमें भारत की स्थिति विकसित देशों जैसी ही है और अब यहां विदेशों के लोग भी इलाज के लिए बंबई आने लगे हैं क्योंकि हमारे यहां अपेक्षाकृत कम खर्चा आता है। इसके साथ ही ट्रान्सपोर्टर के उपयोग ने दूर दराज के निःसंतान लोगों में आशा की एक नयी किरण का संचार किया है।

❐❐❐

बाल विज्ञान

नदियां पश्चिम की ओर होकर क्यों बहती हैं ?

मैदानों में नदियां पश्चिम की ओर होकर बहती हैं। यमुना, गंगा, घाघरा आदि नदियां इसी प्रकार बहती हैं। यह तो हम जानते हैं कि पानी सदैव ऊंचाई से निचाई की ओर बहता है। परंतु मैदानों में नदियां ढाल के अनुसार क्यों नहीं बहतीं। इसी प्रश्न को दूसरे रुप में ऐसे भी कहा जा सकता है कि आखिर नदियों के मैदान इतने विस्तृत क्यों हो जाते हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर कोरिआलिस बल में निहित है। यानि कि पृथ्वी के घूर्णन द्वारा नदियों की जलराशि पर एक बल लगता है। चूंकि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है, अतः यह बल पूर्व से पश्चिम की ओर कार्य करता है। इस प्रकार नदियों का जल नदियों के पश्चिमी किनारे को काटती जाती हैं। कालांतर में नदियों का प्रवाह स्थान बदलता-बदलता सुदूर पश्चिम की ओर विस्तृत उपजाऊ मैदान छोड़ जाता है। हालांकि नदियां कोरिआलिस बल के द्वारा पश्चिम की ओर बहती हुई चलती हैं, परंतु उसी के साथ वे ढ़ाल के अनुसार भी बहती जाती हैं। यदि कोरिआलिस बल न होता तो न तो नदियों की दिशा ही बदली और न विस्तृत मैदान ही बन पाते। पृथ्वी के विकास क्रम में जब पृथ्वी का घूर्णन काल 4-5 घंटे का रहा होगा, इस कोरिआलिस बल का मान 25-30 गुना अधिक रहा होगा।

मनुष्य कितना ताप सहन कर सकता है ?

मनुष्य एक समतापी प्राणी है। यह ताप 37^0 सें. पर नियत रहता है। यदि वातावरण का ताप शरीर के ताप से काफी कम हो तो हमें अपने शरीर की गर्मी को रोकने के लिए कपड़े पहनने पड़ते हैं। इसके विपरीत यदि वातावरण का ताप शरीर के ताप से अधिक हुआ तो हमारे शरीर को बाह्य गर्मी से बचाव के लिए पसीना बहाना पड़ता है और पसीने द्वारा शरीर की काफी ऊष्मा बाहर निकल जाती है। इस प्रकार, शरीर तपने से बच जाता है। अब प्रश्न उठता है कि वातावरण का ताप कितना हो कि वह हमारे शरीर द्वारा सहन कर लिया जाये।

पृथ्वी पर प्राकृतिक रुप में अभी 57^0 सें. से अधिक का ताप परिलक्षित नहीं हुआ है। इतना ताप अमेरिका में कैलीफोर्निया की "मृत्यु घाटी" में होता है। यह एक तथ्य है कि शुष्क वायु में आर्द्र वायु की अपेक्षा अधिक ताप सहन किया जा सकता है। ब्लैकडेन और चेंट्री नामक भौतिकविदों ने सिद्ध किया कि यदि शरीर को धीरे-धीरे गर्म किया जाये तो मनुष्य अप्रत्याशित रुप से 160^0 सें. तक ताप सहन कर सकता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस ताप पर वायु में अंडा उबाला जा सकता है और बीफस्टेक्स भूने जा सकते हैं। परंतु इस ताप पर शरीर को अत्यधिक प्यास लगती है और बार-बार पानी पीना पड़ता है। एक ग्राम पानी को शरीर से निकालकर वाष्पित करने में 540 कैलोरी ऊष्मा की आवश्यकता पड़ती है। इस में काफी ऊष्मा शरीर से ले ली जाती है। और शरीर का ताप बढ़ने नहीं पता। और अधिक ताप पर शरीर में मिलने वाली ऊष्मा उससे निकलने वाली ऊष्मा से अधिक होने लगती है और इससे शरीर का ताप बढ़ने लगता है, जो शरीर के लिए घातक है।

फूंक मारने पर मोमबत्ती क्यों बुझ जाती है ?

आग का जलना इस बात पर निर्भर करता है कि ईंधन व ऑक्सीजन की उपस्थिति है या नहीं। परंतु इन दोनों की उपस्थिति में भी फूंक मारने पर जलती मोमबत्ती बुझ जाती है। ऐसा क्यों होता है ? आइए, इस पर विचार करें।

मोमबत्ती अथवा ईंधन का जलना कार्बनिक अणुओं के मध्य बंधों के टूटने से ऊष्मा का पैदा होना होता है। यह ऊष्मा और बंधों को तोड़ती है तथा और ऊष्मा निकलती है। यही प्रक्रिया तब तक निरंतर चलती रहती है जब तक कि पूरा ईंधन ही समाप्त न हो जाये। जलने की इस प्रक्रिया में कार्बन परमाणु और ऑक्सीजन के संयोग से कार्बन डाईआक्साइड उत्पन्न होती है जो जलने को प्रक्रिया में बाधक होती है। परंतु, चूंकि गैसें गर्म होकर फैलती हैं और हल्की हो जाती हैं, अत: ऊपर उठती हैं। इसका स्थान लेने के लिए और ताजी वायु आ जाती है जिसमें ऑक्सीजन होती है। इस प्रकार, जलने में ऑक्सीजन निरंतर मिलती रहती है।

अब, हम मूल प्रश्न पर लौट आते हैं। फूंक मारने से मोमबत्ती के बुझने का भला क्या संबंध हो सकता है। दरअसल, होता यह है कि जब हम फूंक मारते हैं, तो ऊपर उठती कार्बन डाई आक्साइड और नीचे आती ह और मोमबत्ती की लौ को घेर लेती है तथा बाहर से आने वाली ऑक्सीजन का रास्ता बंद कर देती है। चूंकि जलने की प्रक्रिया में ऑक्सीजन की महती आवश्यकता होती है अत: उसके अभाव में मोमबत्ती बुझ जाती है। हां, फूंक मारने की प्रक्रिया लौ के ऊपर से करनी होती है, अन्यथा मोमबत्ती कठिनाई से बुझती है।

जलती लकड़ी पर पानी डालने से वह क्यों बुझ जाती है ?

इसका कारण प्राय: यह दिया जाता है कि चूंकि पानी डालने पर पानी वाष्प में बदल जाता है जो जलने के लिए आवश्यक ऑक्सीजन का रास्ता बंद कर देती है और इस प्रकार आग बुझ जाती है। परंतु आग बुझने की यह व्याख्या पूर्णता सही नहीं है। इसका सही उत्तर जानने के लिए आइए विचार करें।

वास्तव में पानी की भाप ऑक्सीजन को आगे आने से नहीं रोक सकती। अत: आग के बुझने का उक्त कारण नहीं हो सकता। अब देखें कि पानी के डालने से जलती आग में होता क्या है। पानी के गर्म होने पर वाष्प तो बनती ही है। इसके अतिरिक्त भाप द्वारा काफी ऊष्मा जलती लकड़ी से ले ली जाती है इससे जलती लकड़ी का ताप कम हो जाता है। यहां यह बात ध्यान रखने योग्य है कि लकड़ी या कोई पदार्थ एक विशेष, ताप पर ही जलता है। मसलन, लकड़ी लगभग 610^0 सें. पर ही जलना प्रारंभ करती है। इसे लकड़ी का ज्वलन ताप कहते हैं। चूंकि जलने की क्रिया ताप बढ़ने पर कई गुना बढ़ जाती है, अत: प्रचंड रुप में जलती आग पर काफी पानी डालने पर ही उस पर काबू पाया जा सकता है। अन्यथा डाला गया पानी क्षण भर में ही वाष्पित हो कर उड़ जायेगा और लकड़ी का वह भाग जहां पानी डाला गया था तुरंत आसपास से ऊष्मा लेकर पुन ज्वलनताप ग्रहण कर लेगा और वह पुन: दहकने लगेगा।

❐❐❐

श्याम लाल धीमान,

प्रवक्ता भौतिकी

द्वारा डॉ. भोला सिंह रावत, राजकीय चिकित्सालय के पीछे, कोटद्वार (गढ़वाल) 246 149

विज्ञान समाचार

भा. प. अ. केंद्र से :

1. तेल पाइप लाइनों के निरीक्षण हेतु यंत्रों का विकास :

17 अप्रैल, 1995 को भा. प. अ. केंद्र और भारतीय तेल निगम के मध्य हुए एक समझौते के अनुसार तेल-निगम की देश भर में फैली हुई पाइप-लाइनों की सक्रिय अवस्था (ऑनलाइन) में निरीक्षण हेतु एक यंत्रीकृत पाइप लाइन - इंस्पेक्शन गेज़ (PIG - पिग) का विकास भा. प. अ. कें. करेगा। भा. ते. नि. की तेल-वाहक पाइप लाइनों की लंबाई लगभग 8000 किमी. है। समय समय पर चालू अवस्था में इनका निरीक्षण काफी विदेशी मुद्रा खर्च कर विदेशी कंपनियों के सहयोग से किया जाता है। इन यंत्रों को बेचने वाले विश्व में काफी कम हैं अतः ये यंत्र आसानी से उपलब्ध भी नहीं होते।

यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि समय समय पर निरीक्षण कर, किसी बड़े रिसाव के होने से पूर्व ही पाइप-लाइनों के उन हिस्सों का पता लगा लिया जाए, जिन्हें मरम्मत की जरूरत है ताकि नियोजित काम बंद के दौरान उनकी मरम्मत की जा सके। भा. प. अ. केंद्र में उपलब्ध बहु-आयामी विशेषताओं, जैसे सिगनल प्रोसेसिंग तकनीक, रोबोटिकी एवं दाबित भारी-पानी रिएक्टर प्रणालियों के सक्रिय अवस्था में निरीक्षण आदि की विशेषज्ञता, के कारण इस केंद्र ने इस यंत्र को विकसित करने का बीड़ा उठाया है। इस यंत्र को धक्कों, कंपनों और पैट्रो-रसायनकों की मौजूदगी जैसी अत्यंत कठोर परिस्थितियों में विश्वसनीयता से कार्य करना है। भारतीय न्यूक्लीय रिएक्टरों की शीतलन नलिकाओं के निरीक्षण में पिग का प्रयोग पहले ही से किया जा रहा है।

पिग, मूलतः एक बेलनाकार यंत्र है जो उत्पाद ले जाने वाली पाइप लाइन के अंदर चलता है। यह पॉली यूरेथन से निर्मित प्यालों के आधार पर रहता है तथा अपने इलेक्ट्रॉनिकी स्मृति तंत्र में – अपनी स्थिति, वहां की पाइप की दीवार की मोटाई व संक्षारण अवस्था की सूचनाएं जमा करता है। कंप्यूटर द्वारा इस स्मृति को विश्लेषित कर पाइप-लाइनों के उन हिस्सों के बारे में ठीक ठीक पता लगा लिया जाता है जिन्हें बदलने या मरम्मत करने की आवश्यकता होती है। यंत्रीकृत पिग प्रतिदिन 80-100 किमी. की पाइप लाइन का निरीक्षण कर सकता है।

तेल-रसायन भेजने वाले स्थल से यंत्रीकृत पिग को पाइप लाइन के भीतर डाला जाता है, प्रवाही द्रव के साथ चलता हुआ यह आगे बढ़ता है और तेल-प्राप्ति स्थल पर इसे यह यंत्र एक प्रकार की ध्वनि (सूअर की आवाज जैसी) उत्पन्न करता है अतः इसे पिग (PIG) नाम दिया गया है। यंत्रीकृत पिग में कई संवेदक (सेन्सर) होते हैं जो पाइप की दीवार का क्रमवीक्षण (स्केनिंग) कर संक्षारण (कोरोजन), अपरदन (इरोजन) तथा गाऊजिन से जनित क्षति (जैसे पाइप-दीवार का पतला होना आदि) का पता लगाते हैं। संवेदक चुंबकीय अभिवाह रिसान (मैग्नेटिक फ्लक्स लीकेज) के सिद्धांत पर कार्य करते हैं। यंत्र पाइप की दीवार को चुंबकीकृत कर देता है और दीवार में जहां पर त्रुटियां होती हैं, वहां से चुंबकीय अभिवाह बाहर रिसता है। संवेदक इस अभिवाह को पकड़ते हैं तथा यह यंत्र संवेदकों से उत्पन्न सिगनलों को पथमापी (ओडोमीटर) से आने वाले एक और सिगनल के साथ रिकॉर्ड करता है। पथमापी का सिगनल, पाइप लाइन के त्रुटिपूर्ण स्थलों को दर्शाता है। वांछित दूरी तय कर लेने के बाद पिग को निकाल कर, उसमें भंडारित सूचनाओं का विश्लेषण, 'इंटरप्रेटर' द्वारा किया जाता है, जो 'त्रुटि-रिपोर्ट' उत्पन्न करता है। इस रिपोर्ट में त्रुटि-क्षेत्र की माप, उसकी विकटता और स्थिति का वर्णन रहता है। इस रिपोर्ट से पाइप लाइन की 'सेहत' का पता लग जाता है जिससे आवश्यक मरम्मत-प्रक्रिया नियोजित की जा सकती है।

पिग के प्रारूप (प्रोटोटाइप) को लगभग तीस महीनों में विकसित किया जायेगा। यह 12" आमाप (साइज) का होगा। इस समय, भा. ते. नि. की तेलवाहक पाइपों में से, जिनका निरीक्षण आवश्यक है, लगभग 40% पाइप इस साइज के हैं। इस यंत्र के मूल्यांकन के.

आधार पर इसी तरह के यंत्रीकृत पिग अन्य आमापों में भी विकसित किये जायेंगे ।

व्यवसायिक पिग का विकास इसके बाद लगभग अगले 12 महीनों में किये जाने की आशा है । तब इस क्षेत्र में परामर्श-सेवा प्रदान की जायेगी । इस तकनीक का हस्तांतरण अन्य कंपनियों को भी किया जा सकता है । इस परियोजना की कुल अनुमानित लागत लगभग छः करोड़ रुपये है ।

2. न्यूक्लीय ऊर्जा संयंत्रों के जीवन-काल में बढ़त :

12 सितंबर 1995 को भा. प. अ. केंद्र व इ. सी. आई. एल. के मध्य हुए एक समझौते के अनुसार केंद्र के रिएक्टर इंजीनियरिंग प्रभाग द्वारा विकसित शीतलक चैनल प्रतिस्थापन तकनीक (कूलेंट चैनल रिप्लेसमेंट टेक्नोजोली) का हस्तांतरण औद्योगिक उत्पादन हेतु इ. सी. आई. एल. को किया गया ।

भारतीय दाबित भारी पानी रिएक्टर (KAPP-1 तक के) की शीतलक नलिकाएं जिरकोलॉय-2 से निर्मित हैं । इन नलिकाओं का जीवन-काल संक्षारण व हाइड्राइडिंग के कारण लगभग दस पूर्ण-शक्ति-वर्ष तक ही होता है । अतः पूर्ण रिएक्टर के जीवन काल को बढ़ाने के लिए इन नलिकाओं को बदलना पड़ेगा । नयी नलिकाएं बेहतर पदार्थ Zr-2.5 प्रतिशत Nb से निर्मित की जायेंगी। भारत में RAPS-2 रिएक्टर इस अवस्था को पहुंच गया है कि इसकी शीतलक नलिकाओं को बदलना आवश्यक हो गया है । MAPS-1 और MAPS-2 की नलिकाएं भी अपने अर्ध-सेवा काल को पूरा कर चुकी हैं ।

रिएक्टर की 306 शीतलक नलिकाओं व उनसे संबंधित घटकों – गार्टर-स्प्रिंग, एवं फ्रिटिंग, व उनसे जुड़े घटकों आदि को बदलना एक अत्यंत जटिल प्रकिया है; क्योंकि ये सभी घटक अति तीव्र रेडियो-धर्मी हैं । साथ ही इन तक पहुंचने में जगह की कमी, व परिवेश की रेडियो-धर्मिता भी इस कार्य को और जटिल बना देती है । देश के PHWR की शीतलक नलिकाओं को हाथ से बदलने के अनुभवों से पता लग गया है कि एक ही रिएक्टर की सब नलिकाओं को बदलने में ही अत्यधिक रेडियो-धर्मिता मनुष्यों को झेलनी पड़ेगी । साथ ही इस दौरान रिएक्टर को काफी समय तक बंद रखना पड़ेगा तथा आवश्यक प्रशिक्षित कारीगरों की बढ़ी संख्या में उपलब्धि कठिन समस्या होगी । इन सब बातों का ध्यान कर एक अर्ध-स्वचालित, सुदूर संचालित शीतलक चैनल प्रतिस्थापन मशीन का विकास किया गया है । इस केंद्र के रिएक्टर इंजीनियरिंग प्रभाग द्वारा विकसित इस मशीन का उपयोग RAPS व MAPS की तरह के रिएक्टरों में शीतलक नलिकाओं को बड़ी संख्या में बदलने के लिए किया जायेगा । इसका विकास 'असफलता मूल्यांकन एवं मरम्मत - तकनीकी विकास कार्यक्रम' के अंतर्गत किया गया है ।

इसके उपयोग से समय व विदेशी मुद्रा की काफी बचत होगी ।

प्रस्तुति : डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला
रसायनिकी प्रभाग
भा. प. अ. केंद्र, बंबई - 400 085

अन्य समाचार :

1. स्टील्थ तकनीक विकसित

भारत ने अपने युद्धक विमानों की सुरक्षा और उन्हें दुश्मन की नज़र से बचाने के लिए अत्याधुनिक "स्टील्थ तकनीक" का विकास कर न केवल अमेरिका का एकाधिकार तोड़ा है, वरन् संपूर्ण विश्व को अचंभित कर दिया है । जाहिर है अब तक विश्व में यह तकनीक मात्र अमेरिका के पास थी । ज्ञात हो कि इस तकनीक से निर्मित विमान राडार की पकड़ में नहीं आते और लगभग अदृश्य रहते हैं । यह तकनीक अब तक परम गोपनीय मानी जाती थी ।

अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन से प्रकाशित पत्रिका "डिफेंस न्यूज" के अनुसार भारत अपने सभी अत्याधुनिक लड़ाकू विमानों पर प्रकाश की किरणों को

सोख्र लेने वाले काले धातु की परत चढ़ा रहा है जिसे 'स्टील्थ तकनीक' कहते हैं। इससे दुश्मन के राडार के लिए उक्त विमानों की गतिविधियों को भांप पाना दुश्वार हो जायेगा। भारत के लड़ाकू विमानों में जगुआर, मिराज-2000 एच और मिग-29 तथा मिग-21 प्रमुख रूप से शामिल हैं जिन पर उक्त तकनीक से कलई की जायेगी। भारतीय रक्षा अनुसंधान और विकास संगठन ने जिस तकनीक का विकास किया है, वह बहुत सस्ती भी है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस तकनीक की लागत मात्र एक हजार डॉलर है। करोड़ों रुपये कीमत वाले विमानों की सुरक्षा का व्यय इतना कम कल्पना जैसा ही लगता है। किंतु हमारे रक्षा वैज्ञानिकों ने इसे हकीकत में तबदील कर एक मिसाल कायम की है। ऐसे उपयोगी और महत्वपूर्ण तकनीक के विकास के लिए सचमुच भारतीय रक्षा वैज्ञानिक बधाई के पात्र हैं।

2. कृत्रिम दृष्टि प्रणाली

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने कंप्यूटर की मदद से एक अनोखी कृत्रिम दृष्टि प्रणाली विकसित की है, जिससे अंधे भी देख पायेंगे। इसके अंतर्गत चश्मे में लगे दो सूक्ष्म टेलीविजन कैमरे आंख के भीतर लगाये जानेवाले एक अत्यंत सूक्ष्म कंप्यूटर को अदृश्य लेजर संचालन संदेश भेजेंगे। जाहिर है कंप्यूटर लेजर किरणों में निहित दृश्य संकेत को विद्युत संकेत में बदलेगा जो मस्तिष्क तक जायेगा। इस प्रकार अंधे भी देखने में सक्षम होंगे।

कंप्यूटर का आकार अत्यंत सूक्ष्म होगा जो आंख के परदे यानी रेटिना पर धीमी गति से घूमता रहेगा। इस उपकरण को विकसित करने वाले वैज्ञानिक हावर्ड मेडिकल कॉलेज के स्नायु एवं नेत्र विशेषज्ञ डॉ. जोसफ रिज्जो के अनुसार इस पहली कंप्यूटर आंख पर पांच लाख डॉलर यानी तकरीबन डेढ़ करोड़ रुपये खर्च आयेगा। लेकिन बड़े पैमाने पर उत्पादन से इसकी लागत घटकर 50 डॉलर प्रति उपकरण (लगभग 1800 रुपये) हो सकती है। बहरहाल मानव पर इसके प्रयोग में अभी कई वर्ष लग सकते हैं।

आम लोगों को यह उपकरण किसी काल्पनिक वैज्ञानिक फिल्म जैसा लग सकता है किंतु डॉ. रिज्जो काफी आशान्वित हैं। हालांकि यह बहुत कम दूरी तक तथा आंशिक दृष्टि ही दे पायेगा, किंतु इससे अंधों के जीवन में निश्चय ही आशा की एक किरण फूटेगी और उनका जीवन पथ ज्योतिर्मय होगा।

3. खेसारी दाल की खाने योग्य किस्म

खेसारी दाल का प्रयोग वर्षों से प्रतिबंधित है, क्योंकि लंबे समय तक इसके सेवन से 'लेथाइरिज़्म' नामक घातक रोग होने का भय बना रहता है। बहरहाल भारतीय कृषि अनुसंधान केंद्र (पूसा) के वैज्ञानिकों ने जैव-प्रौद्योगिकी (बायो-टेक्नोलॉजी) और ऊतक संवर्द्धन (टीशू कल्चर) विधि से वर्तमान में प्रतिबंधित खेसारी दाल की एक ऐसी किस्म विकसित की है, जिसमें प्रोटीन भरपूर है किंतु हानिकारक स्नायु रोग कारक रसायन की मात्रा नगण्य (0.05 प्रतिशत) है। इतना ही नहीं, इस किस्म की उपजाऊ क्षमता भी काफी अधिक है। हालांकि खेसारी दाल की आम किस्मों में भी प्रोटीन की मात्रा भरपूर (28 से 34 प्रतिशत तक) पायी जाती है, किंतु उनमें 0.8% से 1% तक हानिकारक रसायन मिश्रित रहता है जो स्नायुरोग "न्यूरोलैथेरिज़्म" का कारक होता है। इसलिए लंबे समय तक यह दाल नियमित रूप से खाने से बच्चों में पक्षाघात होने की आशंका बनी रहती है। भारत सहित अन्य कई देशों में खेसारी दाल पर प्रतिबंध लगा हुआ है। स्वास्थ्य की दृष्टि से इसमें व्याप्त हानिकारक रसायनों की मात्रा 0.2% से कम होनी चाहिए। खेसारी दाल की नयी किस्म को किसानों में प्रचारित करने की जरूरत है। इसमें किसानों और देश दोनों का हित है।

4. हमारी याद्दाश्त

अक्सर हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि हमारा मस्तिष्क किस प्रकार सीखता है ? या फिर मस्तिक कैसे कोई बात याद रख पाता है ? इन प्रश्नों के जवाब में अमेरिकी जीव वैज्ञानिकों का कहना है कि ऐसा तंत्रिका कोशिकाओं में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों के कारण

होता है । कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के डेनियल कोशलैंड और उनके साथियों का मानना है कि हमारी यंत्रिका कोशिकाओं में सीखने की प्रकिया के दौरान कई रासायनिक परिवर्तन होते हैं । इन परिवर्तनों को वे चूहे की तंत्रिका कोशिकाओं पर दिखाने में सफल भी रहे हैं । उनका मानना है कि हमारी याद्दाश्त (मेमोरी) तंत्रिका कोशिकाओं के नये गठबंधनों की बजाय तंत्रिका कोशिकाओं के भीतर हुए रासायनिक परिवर्तनों का परिणाम होती है ।

जाहिर है कोशलैंड और उनके साथियों ने चूहे की तंत्रिका कोशिकाओं पर बाहर उत्प्रेरकों के प्रभाव को दर्शाने के लिए नॉरएड्रेनेलिन, सेरोटॉनिन और एसीटिलकोलिन जैसे न्यूरोट्रांसमीटर्स द्वारा भेजे जाने और प्राप्त किये जाने वाले रासायनिक संकेतों पर पैनी नजर रखी । उन्होंने पाया कि 'पी.सी.12' नामक तंत्रिका कोशिकाओं को जब एसीटिलकोलिन से उत्प्रेरित किया गया, तो उनसे निकलने वाली नारएड्रेलिन की मात्रा लगातार घटती गयी । जब यही क्रिया 'एच. टी.-4' नामक कोशिकाओं पर दोहरायी गयी, तो नॉरएड्रेनेलिन की मात्रा बढ़ती गयी । इन कोशिकाओं को सेरोटोनिन से उत्प्रेरित करने पर उनमें और भी ज्यादा तेजी से परिवर्तन होते देखे गये ।

बहरहाल, इन शोधकार्यों के निष्कर्ष के तौर पर कोशलैंड का मत है कि मस्तिष्क द्वारा सीखने की प्रक्रिया के दौरान तंत्रिका कोशिकाओं के भीतर कुछ रासायनिक परिवर्तन होते हैं और उनकी आकृति में भी बदलाव आता है ।

प्रस्तुति : डॉ. सीताराम सिंह पंकज
के. एस. आर. कॉलेज, सरायरंजन,
समस्तीपुर - 848 127

5. कई समस्याएं हल करेगा "सोल जैल"

"सिरेमिक" को अब तक हम "तामचीन" अर्थात चीनी मिटटी रूप में पहचानते आये हैं, जिससे तरह तरह के चमकीले बर्तन, चाय के प्याले, तश्तरीयां, टाइल्स, बिजली के कट आउट, बोतलें, सुराहियां आदि बनाये जाते हैं । इस स्थिति में क्रांतिकारी बदलाव 1986 में आया, जबकि उच्च तापमान पर अतिचालकता दर्शाने वाले अनेक पदार्थों की खोज सफल हुई ।

अब तामचीनी मिटटी को प्रयोगशाला में संश्लेषित करके कुछ ऐसे सिरेमिक पदार्थों का निमार्ण होने लगा है जिससे सिरेमिक पदार्थों का बिजली यंत्र, उपकरण, प्रकाश, कांच के प्रकाशिक फाइबर, सोडियम वाष्प लाइट, गैस टर्बाइन, चूल्हों पर परत चढ़ाने और कई प्रकार के विद्युतरोधी उपकरणों में तेजी से उपयोग बढ़ा है ।

आज उच्च श्रेणी के तैयार सिरेमिकों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है; एक तो वह जिन के अनेक प्रकार के उपकरण आदि बनते हैं और दूसरे जिन से विद्युत संबंधित उपकरण बनाये जाते हैं । उच्च श्रेणी के सिरेमिक को अब तीन प्रकार से तैयार किया जाता है जिसे व्यापारिक स्तर पर उपयोग किया जा सकता है । एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसे पाउडर मिश्रण, सह अवक्षेपण, और फ्यूजन विधियों के अलावा विगत कुछ सालों से गैर परंपरागत विधियों से भी इसका निमार्ण होने लगा है ।

इस दिनों जिस विधि से आधुनिक उपयोग के लायक बहुपयोगी सिरेमिक निर्माण होने लगा है, इसे "सोल-जैल प्रक्रिया" नाम दिया गया है । लन्दन के उत्तर पश्चिम में हारवैल में स्थित प्रयोगशाला में इस विधि पर बरसों से अनुसंधान कार्य चल रहा है । ऐटोमिक एनर्जी अथॉरीटी में तैयार किये गए इसके घोल को रसायन विज्ञान की भाषा में "सोल" कहा जाता है । इस के गाढ़े घोल में ठोस पदार्थों के कण एक मीटर के दस लाखवें से लेकर एक करोड़वें हिस्से जितने बारीक हो सकते हैं । इस घोल को थोड़े समय यों ही छोड़ने पर इसमें जैलीनुमा लिसलिसा पदार्थ दिखने लगता है । यह मूल घोल की तुलना में ज्यादा ठोस होता है । इसी को "जैल" कहा जाता है । यद्यपि इसमें जल की मात्रा भी हो सकती है फिर भी यह ठोस दिखता है । इस घोल से जल की मात्रा को निकाल दिया जाये तो "ठोस जैल" बचा रहता है । इसे अधिक देर तक गर्म किया जाये तो यह "आक्साइड" का

रुप धारण कर लेता है। अर्थात 'सोल' से जैल और फिर आक्साइड में परिवर्तन की यह क्रिया ही "सोल जैल" प्रक्रिया कहलाती है।

लंदन की हारवैल प्रयोगशाला में वैज्ञानिकों ने इस प्रकार सोल जैल तैयार करने में अच्छी महारत हासिल की है, जिसका अनेक प्रकार के उद्योगों में प्रयोग होने लगा है। सोल जैल बनाने की इस आधुनिक विधि के अनुसार इस में रसायनिक क्रिया 1000 डिग्री सेल्सियस पर ही होती है। इसमें बनने वाले घटक अधिक समता से मिश्रित होते हैं। इसके आक्साइडों को मनपसंद और आवश्यकता के अनुरुप आकारों में परिवर्तित किया जा सकता है। इनसे संबंधित रासायनिक क्रिया की शुद्धता और घटक पदार्थों की सीमा को नियंत्रित करना आसान होता है। इस में छिद्रता संबंधी दशाओं को सुनिश्चित किया जा सकता है। ये सारी विशेषताएं सोल जैल में ही पायी गयी है।

इस विधि से तैयार सोल जैल को उपयोग के अनुसार सही अनुपात में लचीला, चिपचिपा, लोचकता के हिसाब से चयन करना आसान होता है। इसकी परत किसी वस्तु पर चढ़ाई जा सकती है। धातुओं पर भी इससे नये प्रकार के उत्प्रेरक का निमार्ण हो सकता है। जिसकी भूमिका और अधिक उपयोगी साबित होती है। इस तरह के बहुपयोगी उत्प्रेरकों के रुप में एल्युमिनियम आक्साइड और सिलीकॉन आक्साइड अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। सोल जैल प्रणाली दो प्रकार की होती है। एक में कार्बनिक तरल उपयोग में लाया जाता है, जिसमें में कोई न कोई धातु यौगिक होता है, द्वितीय प्रणाली में जलीय माध्यम में कोई ठोस तत्व या पदार्थ छितरा दिया जाता है। अब हारवैल की प्रयोगशाला में कार्यरत वैज्ञानिकों ने एक नयी विधि "टिन आक्साइड" को उत्प्रेरक के रुप में उपयोग करने के लिए सोल जैल विधि को अपनाया है, जिसमें दूसरे उत्प्रेरक पदार्थों का मिश्रण सुलभ एवं सुगम हो गया हैं। ज्ञातव्य है कि ये उत्प्रेरक सही ढ़ंग से कार्य तभी करते हैं जबकि इसका निमार्ण सोल जैल की आधुनिक प्रणाली द्वारा किया है। तभी यह धातु पर आसानी से चढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार के उत्प्रेरकों से निमार्ण क्रिया में जबरदस्त बदलाव आएगा, फिर नये पदार्थों का निर्माण भी संभव होगा।

6. परखनली में पनपेंगी अब कोशिकाएं

चिकित्सा के क्षेत्र में हाल ही में वैज्ञानिकों को एक चमत्कारी सफलता हाथ लगी है। इससे ऐसा प्रतीत होने लगा है कि निकट भविष्य में न केवल मनुष्य बल्कि अन्य जीव जंतुओं और दूसरे जीवों की विशिष्ट एवं विभेदिये कोशिकाओं को जल्दी ही परखनली में पनपाना संभव होगा। इससे चिकित्सा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन परिलक्षित होगा। तब न केवल शरीर के किसी हिस्से की कोशिका को बदला जा सकेगा बल्कि कई लाइलाज सरीखी बीमारियों का सरलतापूर्वक निदान भी संभव होगा। इसे उपचार के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण आंका जा रहा है।

यद्यपि कोशिका को परखनली में पनपाने संबंधी अनुसंधान अभी अपने प्रारंभिक काल में है, किंतु इस तथ्य में कोई आशंका नहीं है कि इस अनुसंधान के कामयाब होने पर मानव भ्रूण से उसकी प्रारंभिक अवस्था में ही मस्तिष्क के ऊतकों को अलग करने पर लगी रोक हटा ली जाएगी। इस नैतिक पाबंदी के कारण ही फिलहाल अनेक विकारों, एल्जीमर पार्किंसन सरीखे रोगों का सही तरीके से उपचार हो सकेगा। तब शरीर की निष्क्रिय कोशिकाओं के स्थान पर सक्रिय कोशिकाएं और ऊतक परखनली में उपजाकर रोगियों के अंगों में प्रत्यारोपित की जा सकेंगी। अभी तक विशिष्ट कोशिकाएं परखनली में संवर्धित होने के उपरांत अपनी मौलिक विशिष्टताएं खो देती थीं। तब इनका अंग प्रत्यारोपण अथवा अनुसंधान में कोई उपयोग नहीं रह जाता था।

नये अनुसंधान के अनुसार जिगर जैसे अंगों की कोशिकाएं इतनी अधिक तादाद में पनपायी जा सकेंगी कि ये अंग समूचे तौर पर रोपे जा सकें। डॉ. कैरोलिन, डॉ. जूलियन और डॉ. लिनमेन द्वारा खोजी गयी तकनीक के अनुसार विशिष्ट और विभेदित कोशिकाओं में ऐसे

जीन डाले जाते हैं जो इन कोशिकाओं को "अमर" बना देते हैं। सामान्यतया, मनुष्य एवं अन्य प्राणियों की प्रत्येक कोशिका का जीवनकाल सुनिश्चित होता है। एक कोशिका कितनी बार विभाजित होगी, यह भी तय होता है। किंतु यह इस तथ्य पर निर्भर करता है कि वह कोशिका किस अंग की है और किस तरह के ऊतक से ली गयी है। ये एक अवधि यानी दुगुनी, चौगुनी या आठ गुनी होते होते परखनली में आगे विभाजित होने की प्रक्रियां रोक देती हैं और कुछ समय बीतने पर नष्ट हो जाती हैं। क्योंकि तब कोशिकाओं के केंद्र में मौजूद केंद्रक (नाभिक) में स्थित जीन भी कुछ इस प्रकार इनकी जीवन लीला समाप्त कर देती हैं. जैसे घड़ी तभी तक चलती है जब तक उसमें चाबी भरी रहती है।

आज चिकित्सकों ने कोशिकाओं के अवश्यंभावी मृत्यु पर न केवल विजय प्राप्त कर ली है बल्कि कोशिकाओं को "अमरत्व" प्रदान करने का उपाय भी तलाश लिया है। परखनली में कोशिकाएं पनपाते हुए चिकित्सकों ने यह भी देखा था कि कुछ कोशिकाएं अपने भीतर विषमान जीन को धता बताकर लगातार विभाजित होती रहती हैं, कुछ कोशिकाएं बूढ़ी होकर मर जाती हैं जबकि "अमरत्व" प्राप्त कोशिकाएं पूरे संवर्ध पात्र में छा जाती हैं।

इस अनुसंधान का उद्देश्य भी यही है कि विभेदित कोशिकाओं को वांछित उद्देश्य प्राप्ति के लिए नियंत्रित "अमरता" प्रदान की जाय, ताकि समय पर अनुसंधान एवं चिकित्सा के लिए अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकें। अब तक यह देखने में आया है कि जैसे ही कोशिकाएं अमरता प्राप्त करती हैं, उनकी अपनी विशेषताएं समाप्त होने लगती हैं और पहले की तरह सामान्य अवस्था में आती जाती हैं जैसी कि भ्रूणावस्था में होती हैं। इसलिए, अब चिकित्सकों एवं वैज्ञानिकों की कोशिश यही है ही कोशिकाओं को आवश्यकतानुसार संख्या में लगातार बढ़ने दिया जाये, फिर ज्यों ही वांछित मात्रा में पनप जाये, "अमरता" छीन ली जाये। इस प्रकार कोशिकाओं में समस्त गुण धर्मों के साथ वयस्क अवस्था में, इतनी मात्रा में उपलब्ध होंगी जिससे चिकित्सा और अनुसंधान में सुविधानुसार उपयोग किया जा सकेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति में चिकित्सक बहुत हद तक कामयाबी हासिल कर चुके हैं। और कुछ क्रांतिकारी परिणामों पर से परदा उठाने के प्रयास से जुटे हैं।

इस प्रणाली में सूक्ष्म, जटिल और बारीक आनुवांशिक यांत्रिकी की विधियां अपनायी जाती है, जिसे "जीनियागरी" कहते हैं। इस खोज से पहले पहल यह भेद प्रकट हुआ कि यदि कोशिकाओं को "सीमियन वाइरस, एसवी-40" से संक्रमित किया जाये तो अमर बन सकती हैं। ये विषाणु "सीमियन नस्ल" के बंदरों से प्राप्त किये गये थे। कुछ वैज्ञानिकों ने बाद में "एसवी-40" विषाणु के कणों से वह "जीन" अलग कर लिया जो मानव अथवा किसी अन्य प्राणी की कोशिकाओं में प्रविष्ट करने पर इन्हें "अमरत्व" प्रदान करता था। यह जीन ही वास्तव में "टी एंटीजन" नामक प्रोटीन बनाने का संदेश समेटे हुए था। कोशिका में प्रविष्ट होते ही "अमरता का जीन" वहां पहले से मौजूद बुढ़ापे और मृत्य के जीन को निष्क्रिय कर देता और टी एंटीजन का निमार्ण कार्य आरंभ कर देता। फिर जैसे ही इस अमरता के जीन को निष्क्रिय किया जाता। कोशिकाएं अमरता खोकर पुनः सामान्य अवस्था में आ जातीं।

इस शोध के दौरान ही वैज्ञानिकों ने "टी एंटीजन" कोशिकाओं को अमर बनाने की तकनीक पर विजय प्राप्त करने के अलावा अब यह जानने के प्रयास में जुटे हैं कि इसके कौन से हिस्से या आंशिक अंश आदि किसी जीव क़ा मानव के बुढ़ापे और मृत्यु के वाहक होते हैं। टी एंटीजन कोशिकाओं के द्वारा इनको भी यानी कि जीन या जोनों की क्रिया को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाये जा सकें और मृत्यु के साथ बढ़ापे को आने से रोका जा सके। इस महानतम और विश्व के सबसे बड़े आश्चर्य के रुप में खोज की प्रक्रिया को चरणबद्ध ढ़ग से पूरा करने में विश्व के वैज्ञानिक दिन रात जुटे हुए हैं। मगर अब तक इस दिशा में ब्रिटेन के डॉ. वर्क. मैकडोनाल्ड और उनके टीम के अन्य वैज्ञानिकों को जैसी तकनीक हाथ लगी है, वैसी सफलता किसी और को मिलती नहीं दिखायी देती।

यदि यह शोध सफल होता है, तब मात्र उतनी ही आनुवंशिक साम्रगी को कोशिकाओं में प्रविष्ट करने की आवश्यकता होगी, जितना कि "टी एंटीजन" के केवल अमरत्व सहित उस हिस्से के निमार्ण के लिए आवश्यक होगी । इसके लिए वैज्ञानिकों की एक जमात "टी एंटीजन" के प्रभाव को समाप्त करने की दो विधियों की खोज में लगी है, जिसके फलस्वरूप, वांछित तादाद में बनने के उपरांत टी एंटीजन की क्रिया बंद करके कोशिकाओं से.अमरता जैसी गुण क्षमता छीन ली जाये और मनचाहे रूप में सामान्य बना दिया जाय । इसका एक प्रचलित तरीका यह होगा कि कोशिकाओं में प्रविष्ट करने से पूर्व टी एंटीजन बनाने वाले जीन में कोई ऐसा जीन मिलाया जाय, जो उस जीन को तभी कार्यशील करे, जबकि परखनली के संवर्धन में को-एंटीबायोटिक या हार्मोन शामिल किया जाय ।

एक अन्य तकनीक के अनुसार जीन तभी अभिव्यक्त होता है, जब उसको पनपाने वाले माध्यम का तापमान एक स्तर तक बढ़ा दिया जाय । ये अमरता पैदा करनेवाले और अमरता छीन लेने वाले जीन एक तरह से "ऑन" "ऑफ" वाले स्विचों के समान कार्य करते हैं । इसकी विस्तृत खोज अभी जारी है, लेकिन पार्किंसन रोग से प्रभावित रोगियों में शुरू में ही गर्भपात से प्राप्त भ्रूण की मस्तिष्क वाली कोशिकाएं रोपकर उनमें इस रोग के कारण निरंतर होने वाली कंपकंपी को काफी हद तक कम किया जा सकता है । इस प्रकार इल्जीमर रोगी का भी इलाज संभव हो सकेगा । जिस के दौरान रोगी की स्मरण शक्ति बहुत घट जाती है । अभी तक इस तरह के मस्तिष्क विकारों के इलाज में भ्रूण से प्राप्त ऊतक उपयोग करने के प्रश्न पर भारी नैतिक प्रतिबंध लागू रहा है । किंतु यह तकनीक सफल साबित हुई तो भ्रूण मस्तिष्क कोशिकाओं की मांग विश्व भर में बढ़ जायगी, आशांका है कि इस मांग को पूरा करने के लिए गरीब मुल्कों की औरतों को गर्भधारण के लिए विवश किया जा सकता है, जिन से भ्रूण लिया जा सके ।

प्रस्तुति : तारिक असलम तस्नीम

लेखनी प्रकाशन, 2/6 हारून नगर कालोनी,
फुलवारी शरीफ, पटना - 801 505

संगोष्ठी समाचार

ऊर्जा एवं पर्यावरण

हिंदी विज्ञान साहित्य परिषद, भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, मुंबई और रसायनिकी विभाग पूना विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में 'ऊर्जा एवं पर्यावरण' विषय पर हिंदी में अप्रैल 20-21, 1995 के दौरान दो दिवसीय संगोष्ठी का आयोजन पूना विश्वविद्यालय के प्रांगण में किया गया । इस संगोष्ठी का उदघाटन पूना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉ. श्रीधर गुप्ते ने दीप प्रज्वलित करके किया । संगोष्ठी का आयोजन राष्ट्रभाषा में करने के लिए उन्होंने आयोजकों को बधाई दी । अपनी मातृभाषा में गर्वपूर्वक बोलते हुए उन्होंने बताया कि वही विकास सार्थक है, जो मनुष्य के लिए हर प्रकार से कल्याणकारी हो, ऊर्जा एवं पर्यावरण का संरक्षण करे । उन्होंने आशा व्यक्त की कि पेट्रोलियम उत्पादों के समाप्त हो जाने के बाद क्या करना होगा – इस विचारणीय प्रश्न पर संगोष्ठी में विचार-विमर्श अवश्य किया जायेगा ।

रसायनिकी विभाग के अध्यक्ष प्रो. एस. एफ. पाटिल ने अतिथियों तथा प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए कहा कि पर्यावरण के बिगड़ते संतुलन को सुधारने का दायित्व वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञों का है । इस पर विचार करने और समाधानों को ढूंढने के लिए ही इस संगोष्ठी का आयोजन किया गया है ।

संगोष्ठी आयोजन समिति के अध्यक्ष एवं भा. प. अ. केंद्र के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा वर्ग के निदेशक डॉ. उमेश चंद्र मिश्र ने कहा कि महाराष्ट्र की सांस्कृतिक राजधानी पुणे में दुपहिया और तिपहिया वाहनों की संख्या बढ़ जाने के कारण यहां के पर्यावरण पर प्रदूषण का बोझ बहुत बढ़ गया है । इस संदर्भ में यह संगोष्ठी बहुत उपयोगी और प्रासंगिक है ।

हिं .वि. सा. प. के अध्यक्ष एवं भाभा प. अ. केंद्र के ठोस अवस्था एवं वर्णक्रमदर्शिकी वर्ग के निदेशक डॉ.

बी. ए. दासण्णाचार्य ने अपने अध्यक्षीय भाषण में बताया कि इस परिषद की स्थापना 1968 में भा. प. अ. केंद्र के वैज्ञानिकों ने समाज के प्रति अपने दायित्व को समझते हुए की थी। इसीलिए परिषद विज्ञान को आम जनता तक पहुचाने का संकल्प लेकर बढ़ी। त्रैमासिक पत्रिका 'वैज्ञानिक' निरंतर प्रकाशित करने के साथ-साथ कम से कम तीन संगोष्ठियां परिषद हर वर्ष आयोजित करती है। एक संगोष्ठी बंबई के बाहर और दो संगोष्ठियां केंद्र में की जाती हैं। इनमें से एक केंद्र के प्रशासनिक एवं गैर-तकनीकी कर्मचारियों के लिए होती है। इससे वैज्ञानिक और गैर वैज्ञानिकों के बीच सदभावना और जागरुकता का पुल बनता है। इसके अलावा नवीनतम एवं आधुनिक विषयों जैसे अतिचालकता, कंप्यूटर विज्ञान, भूकंप विज्ञान आदि पर संगोष्ठियां आयोजित की गयी हैं। 1991-92 से विज्ञान समाचार देने हेतु 'विज्ञान पत्रिका' का प्रकाशन लगातार किया जा रहा है। डॉ. दासण्णाचार्य ने परिषद का परिचय पूरा करते हुए कहा कि संगोष्ठी का विषय अत्यंत सामयिक है। अंततः उन्होंने संगोष्ठी की उपयोगिता और सफलता की कामना की।

अंत में संयोजक डॉ. शैलेंद्र कुमार कुलश्रेष्ठ ने धन्यवाद प्रस्ताव पेश किया। इस संगोष्ठी में 100 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। दो दिन में लगभग 35 शोधपत्र प्रस्तुत किये गये।

इस संगोष्ठी के साथ साथ पूना विश्वविद्यालय में ऊर्जा एवं पर्यावरण विषय पर विशेष चित्र प्रदर्शनी भी आयोजित की गयी।

डॉ. शैलेंद्र कुमार कुलश्रेष्ठ
(संगोष्ठी संयोजक)
रसायनिकी प्रभाग,
भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, मुंबई - 400 085.

विज्ञान कविताएँ

'विज्ञान से'

जब - जब भाषा-जाति,
प्रांतीयता और मजहबी कट्टरपन की लौ उठें
भारतीय विराट के गर्भ में
विज्ञान तुम खामोश न रहो –
तुम शांति, अहिंसा और सद्भाव की
त्रिवेणी बन बहो।
देखो – फिर से,
हिरोशिमा की बर्बादियां
सिर न उठाने लगें
किसी इराक पर फिर से न बरसें गोले
न बन जाय कोई देश फिर से सोमालिया
भेड़ियों की जमातें फिर से
न रचाएं महानाश
आये न कभी फिर से
लातूर का संकट
खुदा की बंदगी करते नमाजियों का
कोई अश्वत्थामा धोखे से
सामूहिक बध न करे।
विज्ञान तुम वरदान बन
जन-जन में विश्वास भरो,
मानवता को पल्लवित करो।

रामगोपाल परिहार
हिंदी विभागाध्यक्ष,
जवाहर नवोदय विद्यालय हदगढ़ (क्योंझर)
उड़ीसा 758 023

मेरी याद मेरे बाद

वह दिन आयेगा
जब मेरा शरीर
किसी अस्पताल में –
एक श्वेत चादर में
होगा लिपटा पड़ा,
जिसमें, जीने और मरनेवाले
होंगे पटे पड़े ।

तब
वह क्षण भी आयेगा
जब
कि डॉक्टर कह देगा
कि मेरे दिमाग की शक्ति
हो गयी है नष्ट, और,
मेरा जीवन भी
हो गया है समाप्त ।

जब ऐसा हो
तब मेरे शरीर में
किसी मशीन से
कृत्रिम जीवन मत भरना
और उस शैय्या को
मेरी मृत्यु-शैय्या मत कहना ।

कहो कि मेरी
यह है जीवन-शैय्या
और इस शरीर से
निकाल कर मेरे अंगों को
दे देना त्रस्त मनुज को,
कि वे सब भी जियें
अपना एक पूर्ण जीवन ।

उसे दो मेरे नेत्र
कि जिसने
कभी न देखा हो सूर्योदय,
अथवा,
किसी आनंदित शिशु का मुख,
अथवा,
किसी नवोढ़ा के नयनों में
छलकता प्रेममय संसार ।
उसे दो मेरा हृदय
कि जिसका अपना ही दिल
उसके सीने में नित
तीव्र-वेदना भरता हो ।

उस युवक को देना मेरा रक्त,
जो किसी दुर्घटना में
बहा बैठा हो
सब कुछ अपना ही
कि जिससे हो वह दीर्घायु
कि देखे खेलते अपने ही
सब प्यारे नाती-पोतों को ।

मेरे गुर्दे दे देना
उस असहाय काया को,
जो हर हफ्ते निर्भर हो
मशीनी डायलिसिस पर ।

इस शरीर की अस्थियां,
प्रत्येक मांसपेशी
हर रग व नस द्वारा
जुटकर क्यों न किसी
पंगु बालक को
गतिशील बनाओ ।

लो ! मेरे मस्तिष्क का
कोना-कोना छान कर
उसकी कोशिकाओं को उगाओ
कि जिससे
खुशी से चीख उठे ,
कोई मूक बालक ही,
अथवा सुने अपनी खिड़की पर
वर्षा की थाप,
कोई बधिर प्यारी बालिका भी ।

जला दो मेरा,
जो कुछ शेष रहे, और,
बिखेर दो पवन में
मेरी राख को भी
कि जिसकी बनकर खाद
धरती पर नये फूल खिलें ।

यदि,
तुम्हें कुछ जलाना हो
तो वह हों
मेरे दुर्गण, मेरे अभाव
और हों
मेरे मित्रों के प्रति
इस मलिन मन की
सकल दुर्भावनाएं ।

यदि,
मेरी याद मेरे बाद
तुम करना चाहो तो
करना उपकार उसका
जो तुम पर निर्भर हो ।

यदि,
तुम पूर्ण कर सको
मेरी इन अनकही
इच्छाओं को,
तो मैं जियूंगा,
यहीं
सदा और सर्वदा ।

रमेश चंद्र सुकुल 'चंद्र'
नाभिकीय ईंधन सम्मिश्र,
हैदराबाद 500 762

परमाणु बिजलीघर

परमाणु स्रोत है विद्युत उत्पादन
के लिए सर्वश्रेष्ठ विकल्प ।
परमाणु में छिपी अपार शक्ति
का सदुपयोग करने को हम हैं कृत संकल्प ।।
पच्चीस हजार किलोग्राम कोयले के
बराबर है एक किलो यूरेनियम ।
विकिरण को निर्धारित सीमा में
रखते, करते पालन हम हर नियम ।।
शक्ति अधिक मिलती इससे,
राख, धुआं, गैस कुछ नहीं होती ।
पर्यावरण सर्वेक्षण प्रयोगशाला
नियमित परीक्षण-निरीक्षण करती ।।
अंधेरा दूर हुआ घरों का,
कल कारखानों से है उत्पादन बढ़ा ।
परमाणु बिजलीघरों के संचालन से,
इस देश का गौरव बढ़ा ।।
विद्युत मांग व आपूर्ति की खाई कम
करने में है परमाणु घर कटिबद्ध ।
जनता जनार्दन की संपूर्ण सुरक्षा
के लिए है यह सदा वचनबद्ध ।।
अफवाहों से डरे नहीं, शंका संदेह मन
में नहीं कोई रखें ।
बिजली बनती मात्र यहां पर,
मन में सदा विश्वास है रखें ।
ताप, पन व परमाणु घरों में समन्वय
से यह देश प्रगति करेगा ।।
अंधेरे से उजाले की ओर अग्रसर
जनमानस का तम हरेगा ।।
अधिकतम विद्युत उत्पादन है सदा
इन बिजलीघरों का ध्येय ।
सुरक्षा व पर्यावरण संरक्षण को ये देते हैं
समर्पित श्रेय ।।

दिलीप भाटिया
वैज्ञानिक अधिकारी, राजस्थान परमाणु बिजलीघर,
डाक - अणुशक्ति 500 762

कुछ फूल : कुछ कांटे

'वैज्ञानिक' का अप्रैल-जून 1994 अंक और अभी कुछ दिन पहले जुलाई-सितंबर 1994 अंक मिला ।

"क्या खेल व्यायाम स्वास्थ्य को हानि भी पहुंचा सकते हैं ?" लेख पढ़कर अच्छा लगा क्योंकि यह सर्वमान्य तथ्य है कि किसी भी चीज की अति बुरी होती है । वह अच्छी से अच्छी, लाभदायक भी क्यों न हो ? कहा भी है कि "अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप" । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि किसी भी चीज की अति करने से शरीर की प्रतिक्रिया भिन्न हो जाती है । लगातार आराम करना या सोना और लगातार जागकर कार्य करते रहना भी अति की श्रेणी में आते हैं । गहन व्यायाम, गहन अध्ययन सभी यदि एक हद से ज्यादा हो जाते हैं तो हानि पहुंचा सकते हैं । प्रकृति ने रात्रि शायद आराम करने और दिन कार्य करने के लिए निर्मित किया था किंतु हमने प्रकाश की खोज कर दिन-रात के अंतर को मिटाने का प्रयास किया है । यदि जीवन को नियमित नहीं किया जाता है तो यह भी अति की श्रेणी में आ जाता है । बच्चों को पढ़ाया जाता है कि जल्दी सोओ, जल्दी उठो, जीवन नियमित बनाओ किंतु आजकल के बच्चे इस नियमितता से भी परे हट रहे हैं । प्रौढ़ता पाने पर भी नियमितता घटती जा रही है । यात्राएं, कारखानें सभी तो रात को चलते हैं ।

क्या संतुलित जीवन ज्यादा सुरक्षा प्रदान करता है ? क्या प्राचीन काल में मानव रोगों से सुरक्षित था ? यह देखने में सही प्रतीत होता है किंतु कह सकना कठिन है क्योंकि उनके और आज के मानव के मापदंड भिन्न हैं ।

17-04-95

राजकुमार जैन
डी-17/6 डी. आर. डी. ओ. टाउनशिप,
सी. वी. रामन नगर, बैंगलूर -560 093

'वैज्ञानिक' अंक 26(3) में आपका संपादकीय "प्रगत प्रौद्योगिकी हेतु प्रशिक्षण आवश्यक" समस्या के मूल पहलू की ओर ध्यान आकृष्ट कराने में सफल रहा । पत्रिका में आपका संपादकीय बेहतरीन होता है । लेख 'खाद्य पदार्थों का परिरक्षण' और 'भारी धातुओं की विषाक्तता ज्ञानवर्धक लगे । पर टिप्पणियों के अंतर्गत 'क्या भौतिक विज्ञान भी आत्मा और ईश्वर की सत्ता को मानेगा ?" विज्ञान में धर्म/अध्यात्म की सीधी घुसपैठ करता प्रतीत हुआ ।

लेखक द्वारा उठाये गये प्रश्नों पर मेरे विचार प्रस्तुत हैं -

(1) लेखक का कथन है कि आज भौतिक विज्ञान इतना उन्नत हो जाने पर भी क्या कारण है कि मानव दुःखों से पूर्णतया छूट नहीं पा रहा है और स्थायी सुख को प्राप्त नहीं कर पा रहा । इसका कारण है - वैज्ञानिकों द्वारा आत्मा और ईश्वर नाम के द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार न करना और इन द्रव्यों के गुण धर्म स्वभाव को न जानना ।

दुःख मन की एक विशेष भावना है । इस दुःख की भावना के उत्पन्न होने के कई कारण हैं जैसे गरीबी, भूख, बेकारी, बीमारी, प्रतिकूल परिस्थितियां, धन-सुविधाओं की कमी आदि जो मानव को दुःखी करती है। विज्ञान ने मनुष्य को सुख-सुविधाएं दी हैं पर मनुष्य की दुःख, वेदना अंतहीन है । यदि सारी सुविधाएं और सारे सुख मिल भी जायें तो तब भी उसे कुछ न कुछ दुःख रहेगा ही । ऐसा मानव मस्तिष्क के सोचने-विचारने तथा महसूस करने की असीमित शक्ति के कारण है । अतः लेखक का कथन तर्क से परे है । लेखक के उक्त कथन से यह बात भी परिलक्षित होती है कि वैज्ञानिक समुदाय जो आत्मा व ईश्वर की सत्ता नहीं स्वीकार करता, को ही दुःख है और जो धर्म भीरु लोग हैं, आत्मा-ईश्वर की सत्ता मानते हैं, पूर्णतया सुखी हैं ।

(2) भौतिक वैज्ञानिकों की दृष्टि में जगत का मूल तत्व ऊर्जा माना जाता है ।

मूल तत्व 'पदार्थ' है । पदार्थ से स्वतंत्र ऊर्जा का अस्तित्व नहीं हो सकता ।

(3) लेखक द्वारा प्रश्न-1 में उठाये गये मुद्दे पर –

यह सही है कि प्रकृति में प्राप्त 109 तत्वों के गुणों -विशेषताओं में परिवर्तन नहीं हो सकता । पृथ्वी पर मनुष्य पशु-पक्षी, पेड़-पौधे अर्थात् पूरे जीव जगत का निर्माण अनेक तत्वों, यौगिकों, कार्बनिक - अकार्बनिक रसायनों के संयोगों के परिणामस्वरूप हुआ है । इन रसायनों के सम्मिलित रूप में कार्य करने के फलस्वरूप चेतन प्राणी अस्तित्व में आता है । आप एक नया मूल तत्व क्यों मानेंगे ? अतः चेतन को आत्मा कहना निराधार है ।

(4) लेखक के दूसरे प्रश्न के संदर्भ में ....

दूसरे प्रश्न में लेखक एक और चेतन तत्व का आविष्कार कर उसे ईश्वर का नाम देते हैं । सवाल यह खड़ा होता है कि आपके इस नये तत्व ईश्वर ने इस ब्रह्मांड की रचना की तो ईश्वर को किसने बनाया ? यह आविष्कार आप ही कर रहे हैं तो आप ईश्वर से भी बड़ी शक्ति हुए ।

अंत में लेखक का यह आग्रह करना कि आत्मा और ईश्वर को जानने के लिए वैज्ञानिक समुदाय वेदों और वैदिक साहित्य का अध्ययन करें और अन्य लोगों को भी अध्ययन करने को कहें । एक दुराग्रह मात्र है । यदि वेदों में इतना ज्ञान भरा पड़ा है तो आज तक किसी भारतीय ने सृष्टि के उद्भव का रहस्य बताकर क्यों नोबेल पुरस्कार जीत नहीं लिया ?

आज भी पृथ्वी पर कई अनसुलझे रहस्य विद्यमान हैं । हम स्वयं अपने शरीर की कई क्रिया-प्रणालियों के बारे में पूरा नहीं जान पाये हैं । अतः इन कई अनसुलझे प्रश्नों की तरह ब्रह्मांड और इसके उद्भव, पदार्थ व उसका निर्माण परमाण्विक कणों को कार्य विशेष के लिए संचालित करने वाली शक्ति आदि को अभी अनसुलझा ही रहने दिया जाये । हो सकता है निकट भविष्य में इस प्रश्न का तर्क-सम्मत हल मनुष्य पा सके ।

देवेंद्र साखरे
मकान नं. 331 / सी, जोन-2,
26-4-95 दुर्ग (म. प्र.) 490 025

विकिरण समस्थानिक [रेडियोआइसोटोप]

वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकीय प्रगति हेतु अनिवार्य साधन

विकिरण एवं आइसोटोप प्रौद्योगिकी बोर्ड (बी आर आई टी) ने देश में विविध रेडियो उत्पादों की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने में स्वयं को पूर्णतया समर्पित किया है। रेडियोआइसोटोप के उत्पादन एवं अनुप्रयोग हेतु इस क्षेत्र में अनुसंधान की कुछ उत्कृष्ट सुविधाएं ट्रॉंबे में स्थापित की गयी हैं। स्वदेशी अनुसंधान एवं विकास कार्यों पर निर्भर रहते हुए 'ब्रिट' (बी आर आई टी) ने रेडियो आइसोटोप उत्पादों का विस्तृत रूप से विकास किया है एवं देश - विदेश के 1000 से भी अधिक संगठनों की आवश्यकताओं की आपूर्ति की है।

कुछ महत्वपूर्ण उत्पाद एवं सेवाएं इस प्रकार हैं :

- **विकिरण भेषज (रेडियोफार्मास्युटिकल्स) :**
  विभिन्न प्रकार के रोगों के निदान एवं थायराइड रोगों के उपचार हेतु।
- **विकिरण प्रतिरक्षा आमापन (रेडियो इम्यूनो ऐसे) किट्स :**
  हार्मोन्स तथा औषधियों की सूक्ष्म मात्रा के आकलन हेतु।
- **रेडियोरसायन एवं विकिरण स्रोत :**
  अनुसंधान, औद्योगिक अनुप्रयोगों एवं कैन्सर रोगोपचार हेतु।
- **रेडियोग्राफी कैमरे एवं उपसाधन :**
  सांचों तथा वेल्डों के रेडियोग्राफिक निरीक्षण हेतु।
- **गामा किरणन उपस्कर :**
  चिकित्सा उत्पादों के विकिरण निर्जर्मीकरण या खाद्य किरणन हेतु।
- **विकिरण निर्जर्मीकरण सेवा :**
  प्रयोज्य चिकित्सा उत्पादों जैसे, आई. सैट, वी. केथीटर (मूत्रनलिका), जाली का कपड़ा, रूई, शल्य ब्लेड, दस्तानें, रिक्त पात्र आदि के विकिरण निर्जर्मीकरण हेतु।

कृपया अधिक जानकारी हेतु सम्पर्क करें :

वरिष्ठ प्रबंधक एवं विपणन संचालन प्रभारी,

विकिरण एवं आइसोटोप प्रौद्योगिकी बोर्ड (बी आर आई टी)
वि. ना. पुरव मार्ग, देवनार, बम्बई - 400 094.
टेलीफोन : 555 1676/555 3145
तार : ब्रिट एटम, बम्बई - 94, टेलेक्स : 011 72212 ब्रिट इन

इंडियन रेअर अर्थ्स लिमिटेड

शेरबानू, छटी मंजिल, 111, महर्षि कर्वे रोड,
बंबई - 400 020 (भारत)

फोन : 290 914 - 15 टेलेक्स : 011 - 83122

तार : रेअर अर्थ बंबई

: हमारे उत्पादन :

इलमेनाइट
रूटाइल
जरकान
जरकॉन फ्लोर (जिरफ्लोर)
जिरकोनियम ऑक्साइड
जिरकोनियम आक्सीक्लोराइड
गारनेट
सिलिमेनाइट
मोनाजाइट

रेअर अर्थ्स क्लोराइड
रेअर अर्थ्स फ्लोराइड
रेअर अर्थ्स ऑक्साइड एवं साल्टस
सीरियम ऑक्साइड
सीरियम हाइड्रेट
सीरियम कार्बोनेट
ट्राइसोडियम फास्फेट (डोडेकाहाइट्रेड)
समेरियम/इट्रियम/गैडोलिनियम सांद्र

थोरियम/सीरियम नाइट्रेट - थोरियम ऑक्साइड
एवं
कृत्रिम रूटाइल

हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद के लिए डॉ. गोविंद प्रसाद कोठियाल द्वारा संपादित तथा
डॉ. अशोक कुमार सूरी द्वारा प्रिंट शॉप, चेम्बूर, बम्बई (फोन : 555 2348) में मुद्रित व प्रकाशित ।

NUCLEAR GRADE MATERIALS FOR COMMERCIAL APPLICATION

The accuracy, quality and reliability of nuclear grade pipes and tubes - in seamless tubes of different grades S. S. and alloy steels as per ASTMA 312/213/269, for chemical, nuclear, fertilizer petrochemical and power generation industries.

Ultra pure materials - Like Selenium, Antimony, Bismuth, Gallium, Zirconium, $POCl_3$ and other electronic grade materials upto 99.999 purity.

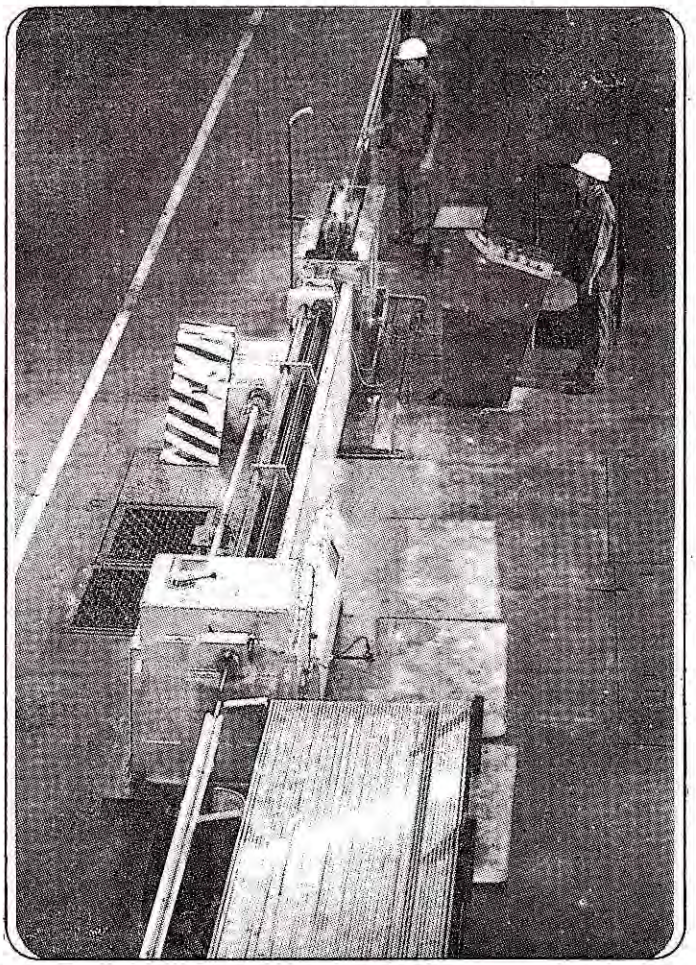

Job Work - For hot extrusion, cold pilgering and vacuum or hydrogen annealing of bearing or carbon steel, cupronickel, titanium or other tubes, plasma, Arc melting of special metals.

The 8-15 cold rolling or pilger mill, built at Nuclear Fuel Complex, available for sale to Indian Industries.

For your special material requirements, please contact :

Marketing Manager

NUCLEAR FUEL COMPLEX

ECIL POST, HYDERABAD - 500 762
Tel. No. 040 - 621239. Fax No. 040 - 621305